बर्मा—कल और आज

बर्मा—कल और आज

लेखक

श्यामाचरण मिश्र

भूमिका

रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर

प्रधान सम्पादक 'आज', वाराणसी

वाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड
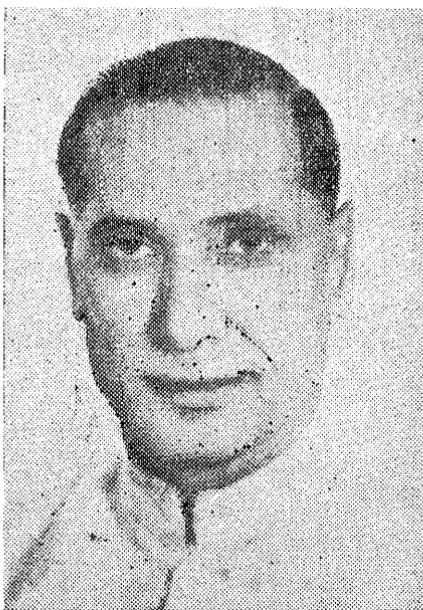
समर्पण

बर्मी स्वतन्त्रता-दिवसके अवसरपर भारत-बर्माकी प्रगाढ़
मैत्रीके अनन्य उन्नायक बर्मास्थित भारतीय राज-
दूत महामहिम श्री लालजी मेहरोत्राको—
जिनसे इस पुस्तकके प्रणयनमें
महान् प्रेरणा प्राप्त हुई

भूमिका

एशियाई देशोमे स्वतन्त्रता, राष्ट्रीय पुनरुत्थान तथा नवजागरणसे उन देशोके स्वाधीनता सग्राम, उनकी स्वतन्त्र सरकारो, उन देशोके लोकजीवन, साहित्य, सस्कृति, कला, आर्थिक साधनो और समस्याओके विषयमे जितनी अधिकाधिक जिज्ञासा आज उत्पन्न हो गयी है, उतनी पहले कभी न थी। इन देशोके सम्बन्धमे लिखा अधिकाश साहित्य यूरोपीय विद्वानो द्वारा लिखित है, जिसमे प्रायः विशेष दृष्टिकोणका ही मुख्यतः अकन हुआ है। इन देशोके राष्ट्रीय दृष्टिकोण, जन-आकाक्षाओ-अभिलाषाओ, उनके सघर्षों एव समस्याओ तथा राष्ट्रीय पुनरुत्थानके निमित्त त्याग-तपस्याका वर्णन-विवेचन करनेवाली पुस्तकोका सर्वथा अभाव रहा है। अत्यन्त हर्षकी बात है कि बर्मामे पिछले पच्चीस वर्षोसे निवास कर वहाँकी परिवर्तनशील राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधिके जागरूक द्रष्टा तथा उसके स्वाधीनता सग्राममे श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक सिपाहीकी भाँति योगदान करनेवाले श्री श्यामाचरण मिश्रने 'बर्मा—कल और आज'का प्रणयन कर इस अभावकी पूर्ति की है।

'बर्मा—कल और आज' पुस्तकका नामकरण उसमे वर्णित विषयोका सकेत करता है। इसमे बर्माके अतीत इतिहासकी पृष्ठभूमिके साथ ही वर्तमान इतिहासकी क्रान्तिकारी घटनाओके प्रामाणिक विवरण तथा उसके वर्तमान चतुर्मुखी विकासका परिचय दिया गया है। पुस्तकके चार खण्ड हैं। प्रथम खण्डमे स्वर्णभूमिके सस्मरणके ग्यारह अध्यायो, द्वितीय खण्डमे बर्मी स्वाधीनता सग्राम और विश्वयुद्धके अन्तर्गत चौदह अध्यायो, तृतीय खण्डमे सक्रान्तिकालीन बर्मा-सम्बन्धी ग्यारह और चतुर्थ खण्ड—बर्मादर्शनके

अठारह अध्यायोमे, बर्माके अतीत और वर्तमानके इतिहास, राष्ट्रीय विकासक्रम तथा लोकजीवनका अत्यन्त सजीव और सस्मरणात्मक चित्राकन हुआ है। परिशिष्टमे बर्मी राजवश, क्षेत्रफल, जनसख्या, भौगोलिक स्थिति, आर्थिक साधनो आदिकी जानकारीसे पुस्तककी उपयोगितामे और वृद्धि हो गयी है।

प्रस्तुत पुस्तककी सबसे उल्लेख्य विशेपता यह है कि इसमे भारतके पडोसी और मित्रराष्ट्र बर्माका अत्यन्त सजीव, स्फूर्तिदायक सस्मरणात्मक ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत हुआ है। बर्मी राष्ट्रीय जीवनके विभिन्न आन्दोलनो और उपलब्धियोके सम्बन्धमे सम्भवतः इस पुस्तकमे प्रथम बार तथ्योका प्रकाशन हुआ है। लेखक अनेक राष्ट्रीय आन्दोलनोसे सम्बद्ध रहा है और नेताजी सुभापकी आजाद हिन्द सरकार तथा सैनिक सघटनका प्रत्यक्ष द्रष्टा रहा है। इसी कारण बर्माके स्वाधीनता-इतिहासके अनेक चिरस्मरणीय ऐतिहासिक प्रसगोको वह लिपिबद्ध कर सका है। एक समय था जब बर्मा भारतका ही अग था। इसलिए बर्माके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सास्कृतिक विकासमे प्रवासी भारतीयोका भी अनुपम योग रहा है। यह गर्व ओर गौरवकी बात है कि बर्मामे अनेक बड़े उद्योग और सास्कृतिक शैक्षिक सस्थाए वहॉके प्रवासी भारतीयो द्वारा सर्वप्रथम स्थापित की गयी। इस प्रकार पुस्तकमे बर्माके चतुर्मुखी विकासमे प्रवासी भारतीयोके मूल्यवान् योगदानका भी लेखकने यथास्थान उल्लेख किया है।

बर्मामें गये भारतीयोने वहॉके राष्ट्रीय जीवनके हर एक अगके विकासमे किस प्रकार प्रभूत योगदान किया है इसकी झॉकी, हम समझते है कि, इस पुस्तकके सिवा और कही एकत्र पढनेको नही मिलेगी। क्या उद्योग, क्या राजनीतिक आन्दोलन, क्या आर्यसस्कृति आर्यसमाज, और क्या हिन्दी शिक्षा—हर क्षेत्रमे भारतीयोने जो कुछ बर्माकी थोड़ी-बहुत सेवा की है उसका अच्छा खासा और रोचक वर्णन इसमे पढनेको मिलता है।

बर्मामे नेपालियो-गोरखोकी भी बडी बस्तियॉ हैं। उनकी गतिविधियोंका वर्णन नेपाल निवासियोके लिए स्फूर्तिदायक अवश्य होगा।

कुछ वर्ष पूर्व तक बर्मा भारतका ही अग था। आज भी रगूनमे सार्व भारतीय झलक मिलती है। बर्माकी माडले जेलमे स्वर्गीय लोकमान्य तिलक-जीके अमोल गीतारहस्य ग्रन्थका प्रणयन और लेखन हुआ था। अन्तिम मुगल बादशाह भी बर्मामे नजरबन्द था। लेखकने इन सब विषयोपर प्रकाश डालकर भारतीयोके लिए यह पुस्तक अत्यन्त हृदयग्राही कर दी है।

राष्ट्रभाषा हिन्दीमे ऐसी पुस्तकोकी नितान्त आवश्यकता है जिनसे पडोसी एशियाई राष्ट्रोके इतिहास तथा जनजीवनके अध्ययन-मननकी सुविधा हो सके। प्रस्तुत पुस्तक इस दिशामे लिखी गयी इनी-गिनी पुस्तको-मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। बर्माका यह सस्मरणात्मक इतिहास बड़ी ही रोचक शैलीमे लिखा गया है और अनेक घटनाओके वर्णन तो ऐसे कौतूहलपूर्ण है कि उनके सम्बन्धमे अधिकाधिक जिज्ञासा पाठकको होना स्वाभाविक है। इस पुस्तकसे बर्माके इतिहास, लोकजीवन और उसके सास्कृतिक महत्त्वपर जहाँ प्रभूत प्रकाश पड़ता है, वही प्रवासी भारतीयोके राजनीतिक, सामाजिक एव सास्कृतिक कृतित्वका भी सहज परिचय मिलता है। यह इतिहास बर्मी और भारतीय जनता, दोनोके लिए अत्यन्त प्रेरणादायक है और इस बातका सकेत देता है कि एशियाई राष्ट्र सहयोगपूर्वक किस प्रकार उन्नतिकी दिशामे अग्रसर हो सकते हैं। ऐसी सुन्दर पुस्तक लिखनेके लिए लेखक बधाईका पात्र है। हमे आशा है इस पुस्तकका सभी समादर करेंगे।

रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर

लेखकके दो शब्द

'बर्मा—कल और आज'के प्रणयनकी एक छोटी-सी कहानी है। भारतके पडोसी तथा मित्रदेश स्वर्णभूमि बर्मामे पिछली चौथाई शताब्दीसे निवास करते हुए अनेक बार मनमे यह बात आयी कि भारतकी राष्ट्रभाषा हिन्दीमे इस देशके अतीत और वर्तमानपर एक पुस्तक लिखी जाय। सर्वश्री जी० ई० हार्वे, मॉरिस कालिस, डी० जी० ई० हाल, ऊ चौ मिन, ऊ माग माग पी आदि अनेक विद्वानो तथा इतिहासकारोकी बर्माविषयक पुस्तके सामने थी, पर दृष्टिकोणका अन्तर तथा स्वतन्त्र बर्माका ऐतिहासिक क्रम एक नवीन रूपरेखाका सकेत करता। सन् १९५६ की ८ जुलाईको भारतीय नौसैनिक बेडा, ध्वजपोत 'दिल्ली'के नेतृत्वमे दक्षिण-पूर्वी एशिया-की सद्भावना-यात्राके प्रसगमे बर्माकी राजधानी रगून पहुँचा। ध्वजपोत 'दिल्ली'के साथ 'आज'के सहायक सम्पादक बन्धुवर श्री लक्ष्मीशकर व्यास, एम० ए० आनर्स भी थे। व्यासजीके आग्रहपर जब हम बर्माके सबसे महान् तथा स्टालिन पुरस्कार विजेता वयोवृद्ध साहित्यकार तखिन कोडो म्हाइनके दर्शनको गये तो बातचीतके प्रसगमे बर्मी स्वातन्त्र्य सग्रामके कर्णधार नेताओकी चर्चा चल पड़ी, जिनमेसे कुछके साथ इन पक्तियोके लेखकका भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। बर्मी महाकविके निवासस्थानसे हम ज्यो ही चले, व्यासजीने अनुरोध और प्रेरणापूर्ण शब्दोमे कहा—"मिश्रजी, आप ये सस्मरण लिख क्यो नहीं डालते ?" इसके थोडे ही दिन बाद भारतीय राजदूत महामहिम श्री लालजी मेहरोत्राका आगमन हुआ और उनसे भी प्रस्तुत पुस्तक लिखनेकी महान् प्रेरणा मिली।

बर्माके भूभागपर सन् १८२६ मे अग्रेजोका आधिपत्य प्रारम्भ हुआ। पिछले एक सौ तैंतीस वर्षोका बर्माका इतिहास अनेक दृष्टियोसे युगान्तरकारी रहा है। इस अवधिमे बर्मी जनताने अपना ऐतिहासिक

स्वाधीनता-सग्राम छेडा, द्वितीय महायुद्ध-कालमे जापानी शासनके दिन देखे और तत्पश्चात् राष्ट्रीय सघर्ष द्वारा बर्मा सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न स्वतन्त्र राष्ट्रके रूपमे अन्तरराष्ट्रीय रगमञ्चपर अवतरित हुआ । पिछले पचीस वर्षोमे बर्मामे राजनीतिक उलटफेरके अतिरिक्त जो सामाजिक और सास्कृतिक पुनरुत्थान हुआ वह एशियाई राष्ट्रोके जागरणमे उल्लेख्य स्थान रखता है । ब्रिटिश शासनमे, जापानियोके अधिकारकालमे, भारतीय स्वाधीनता-सग्रामके अमर सेनानी नेताजी सुभाषचन्द्र वसुकी आजाद हिन्द सेना और सरकारके शासनमे, बर्माके राष्ट्रीय पतन और उत्थानका लेखक द्रष्टा रहा है । उसे उस क्रान्तिकालमे राष्ट्रीय अभ्युत्थानके निमित्त सर्वस्व उत्सर्ग कर देनेवाले स्वतन्त्रता-सग्रामके अनेक सेनापतियोके अत्यन्त निकट सम्पर्कमे रहनेका सौभाग्य प्राप्त रहा है । इस प्रकार पुस्तकमे स्वतन्त्र बर्माके इतिहासकी पृष्ठभूमि, उसके क्रमिक विकासकी झाँकी, उसके निर्माताओं, बर्मी लोक-जीवन, समाज तथा सास्कृतिक परम्पराओंका सस्मरणात्मक इतिहास मिलेगा ।

बर्माके राष्ट्रीय उत्थानमे प्रवासी भारतीयोका योगदान भी उल्लेख्य है । पुस्तकमे यथास्थान उनका भी सादर स्मरण कर उनके कृतित्वका मूल्याकन किया गया है । प्रस्तुत पुस्तक यदि बर्माके राष्ट्रीय उत्कर्षमे सहायक समस्त वर्गों तथा तत्त्वोको अधिकाधिक सन्निकट कर उनमे एकता एवं समन्वयकी भावना भर सके तो लेखक अपना परिश्रम सफल और सार्थक समझेगा ।

अन्तमे मैं उन समस्त महानुभावोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनसे इस पुस्तकके प्रणयनमे प्रेरणा अथवा सहायता प्राप्त हुई है । रगूनस्थित भारतीय दूतावासके सहायक सूचनाधिकारी श्री के० एस० सुब्रह्मण्यम् तथा रामकृष्ण मिशन पुस्तकालयके मन्त्री स्वामी सूर्यानन्दजीका मैं आभारी हूँ जिन्होने बर्मा सम्बन्धी प्रभूत साहित्यका अध्ययन तथा आलोडन करनेकी सुविधा प्रदान की । शान राज्य, करेनोकी स्थिति, बर्मामे आर्यसमाजके कार्यों, चौतगा जागीरके इतिहास सम्बन्धी मूल्यवान ज्ञान-

कारियोंके लिए क्रमशः बर्मा भारतीय कांग्रेसकी टौंजी शाखाके अध्यक्ष श्री एन० सी० राय, करेन नेता श्री बोरेह, ब्रह्मदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभाके मन्त्री डाक्टर ओमप्रकाश, चौतगा जागीरके प्रबन्धक श्री मूलराज जोशी तथा किसान-संघके अध्यक्ष श्री शिवपूजनप्रसादका भी मै अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मेम्यो निवासी श्री कुन्दनसिंह रावतको बर्माके मानचित्र बनाने, श्री० जे० एन० चक्रवर्ती और अखिल बर्मा नेपाली संघके अध्यक्ष श्री मानबहादुर लिम्बू तथा बर्मी-अंग्रेजी और हिन्दीके विद्वान् लेखक ऊ पारगूजीको अनेक सुझाव देने एवं पाण्डुलिपि तैयार करनेमें सर्वश्री कृष्णकान्त ओझा, रामप्रवेश यादव 'साहित्यरत्न' और दयाराम शर्मा 'मस्त' आदिको भी मै हृदयसे धन्यवाद देता हूँ।

'बर्मा—कल और आज'की भूमिका लिखनेके लिए 'आज'के प्रधान सम्पादक श्रद्धेय पण्डित रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकरजीका मै परम अनुगृहीत हूँ, जिनके निर्देशके बिना इसका वर्तमान स्वरूप ही सम्भव न था। पाण्डुलिपिका सम्पादन तथा सत्परामर्शके लिए सहायक सम्पादक श्री चन्द्रकुमारजीका मैं हृदयसे आभारी हूँ। ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसीके व्यवस्थापक श्री विश्वनाथप्रसादजी, प्रकाशन-व्यवस्थापक श्री देवनारायण-जी द्विवेदी तथा प्रेस व्यवस्थापक श्री ओमप्रकाशजी कपूरने जिस उदारता और तत्परतासे इसके प्रकाशन एवं मुद्रणकी व्यवस्था की है उसके लिए मैं उनका सदा आभारी रहूँगा।

बर्मी स्वातन्त्र्य दिवस
४ जनवरी, १९५९

श्यामाचरण मिश्र

विषयानुक्रमणिका

खण्ड एक

(स्वर्णभूमिके कुछ संस्मरण)

खण्ड दो

(बर्मी स्वाधीनता संग्राम और विश्वयुद्ध)

खण्ड तीन

(संक्रान्तिकालीन बर्मा)

खण्ड चार

(बर्मा-दर्शन)

परिशिष्ट

खण्ड एक

: १ :

प्राकृतिक झाँकीका प्रथम दर्शन

यह सन् १९३४ की बात है जब बर्माकी प्राकृतिक झाँकीका पहले-पहल दर्शन हुआ। उस समय बर्मा, ब्रिटिश शासनके अन्तर्गत अखण्ड भारत महादेशका एक अंग था। दोनों देशोंके बीच आवागमनमें कोई कठिनाई नहीं थी। सप्ताहमें दो-तीन दिन जहाज भारतके प्रत्येक बन्दरगाहसे रंगूनके लिए छूटा करते थे। भारतके किसी भी भागका निवासी यदि जहाज छूटनेकी पहली शामतक एक-न-एक बन्दरगाहपर पहुँच जाता तो भी वह दूसरे दिन रंगूनके लिए रवाना होनेवाले पोतसे यात्रा कर सकता था।

चैत्र मासके कृष्ण पक्षकी प्रतिपदा थी और अंग्रेजी महीना अप्रैलकी एक तारीख, जब सन् १९३४ में भगवान् बुद्धके अनुयायियोंकी पवित्र ब्रह्म-भूमिको जीवनकी कर्म-भूमि बनानेके उद्देश्यसे राम-कृष्णकी लीलाभूमि भारतकी ममता मुझे बरबस छोड़नी पड़ी थी। प्रातःकाल घरसे चलकर उसी दिन काशी आना तथा पतितपावनी गंगामें स्नान-आचमन और आशुतोष भगवान् शंकर (विश्वनाथ) का दर्शन करके प्रस्थान सम्भव था, इसलिए ऐसा ही किया गया।

एक अप्रैलको दोपहरके बादकी ट्रेनसे काशीसे चलकर दूसरे दिन सबेरे हबड़ा पहुँचा। यहाँसे जब जहाजघाट आना हुआ तो 'जलगोपाल' नामक पोत किनारेपर लगा हुआ मिला। यह कुछ ही घण्टोंमें छूटनेवाला था, फिर भी, टिकट मिल गया और यात्रा आरम्भ हुई।

चैत्रका महीना जिस प्रकार धरातलपर वासन्ती सरसता-दायक होता है वही बात समुद्रतलपर भी रही। यात्रा प्रसन्नता-पूर्वक समाप्त हुई और ५ अप्रैलको प्रातःकाल 'जलगोपाल'ने रंगून जटीपर लाकर उतार दिया।
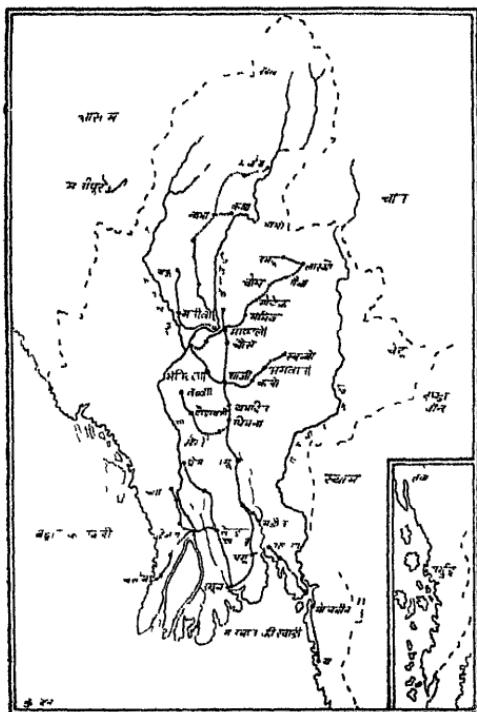
बर्माकी रेलवे लाइन

श्री उमाशंकर पाण्डेय नामक अपने एक सम्बन्धीके साथ, जो तब बर्मा रेलवेके एक स्टेशन मास्टर थे, यह यात्रा की गयी थी। पाण्डेयजी रंगूनसे लगभग २३५ मील उत्तर सिंव्युजुन नामक एक छोटे स्टेशनके अधिकारी थे। सिंव्युजुन रवाना होनेसे

पहले बर्मा रेलवेके प्रधान कार्यालयमें उन्हें अनिवार्यतः सूचना देनी थी इसलिए दो दिनोंतक रंगूनमें ही रुकना पड़ा और ये दिन एक धर्मशालामें बीते।

उन दिनों रंगूनसे सीधे माण्डलेतकके लिए दो 'एक्सप्रेस' और एक पैसेंजर गाड़ियाँ जाती थीं। 'सिंव्युजुन' इतना छोटा स्टेशन है कि वहाँ 'एक्सप्रेस' गाड़ियाँ नहीं खड़ी होती थीं इसलिए साधारण गाड़ीसे ही जाना पड़ा। जहाजसे उतर कर धर्मशालामें आने और वहाँ दो दिनोंके निवासकालमें किन-किन उल्लेखनीय बातोंका अनुभव हुआ, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु रंगूनसे रेलयात्राके समय जो दृश्य देखा गया उसकी अमिट रेख अवश्य ही मस्तिष्कपर पड़ती गयी।

बर्माके लिए प्रस्थानसे पहले उत्तरप्रदेशके बुन्देलखण्डी इलाकेमें कुछ समयतक लेखकको रहनेका अवसर मिला था। चित्रकूटका वह स्थान जिसके लिए कविवर रहीमने कहा है—

जापर बिपदा परत है, सो आवत यहि देस।
चित्रकूटमें रमि रहें, रहिमन अवध नरेस॥

इसी क्षेत्रमें पड़ता है। रेलयात्रा करते हुए उसी प्राकृतिक मंजुल झाँकीके, जो चित्रकूटके आसपास पायी जाती है, यहाँ भी दर्शन होते रहे। रेललाइन बर्माकी दो पर्वतश्रेणियों, पेगूयोमा और करेनीयोमाके बीचसे जाती है और लाइनके दोनों किनारोंके दृश्य कामदगिरिका, जिसे चित्रकूटने पवित्रता प्रदान की है, स्मरण कराता रहा। राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्तने चित्रकूट-वर्णनमें ठीक ही कहा है—

जहाँ गर्भगृह और अनेक सुरंग थे,
विविध भाँति पाषाण पूर्ण सब अंग थे।

जिसकी शृंगावली विचित्र बढी चढी,
हरियालीकी झूल, फूल पत्ती कढी।

('साकेत' पञ्चम सर्ग)

जिन्होंने चित्रकूट नहीं देखा है और बर्माकी प्राकृतिक झाँकीके भी जिन्हें दर्शन नहीं हुए हैं उनके लिए ऊपर उल्लिखित पंक्तियाँ दर्पणका काम करेंगी।

: २ :

सिंव्युजुनके छ मास

प्रकृतिकी गोदमें पलता हुआ सिंव्युजुन रंगूनसे २३५ मील उत्तर एक छोटा-सा स्टेशन था। स्टेशनके पास उस समय विशेष बस्ती नहीं थी। स्टेशनके कर्मचारी और दो-चार दूकानदार ठेकेदार रहते थे। ठीक स्टेशनके सामने दो पंजाबी सज्जन रहते थे। एकका नाम श्री नेचलसिह था और दूसरेका नाम सरदार जुगन्दरसिह। श्री नेचलसिह हर अर्थमें स्वच्छन्द थे। सहज सुलभ सांसारिक सुविधाओंका उपयोग करनेमें वे नहीं हिच-किचाते थे। उस समय जीवित उनकी तीन स्त्रियाँ थीं, एक आन्ध्रा, दूसरी उड़िया और तीसरी बर्मी। वे बहुधन्धी थे। परचूनकी दूकानके अतिरिक्त ठेकेदारी और लकड़ीका व्यापार भी करते थे। श्री नेचलसिह मुंडा सिर रहते थे, किन्तु धार्मिक पर्वोंपर गुरुद्वारेमें जाते थे।

सरदार जुगन्दरसिह श्री नेचलसिंहके ही साथ रहते थे। वे केवल ठेकेदारी करते थे। विवाहिता स्त्री पंजाबमें छोड़कर बर्मा चले आये थे। यहाँ कुछ समय अकेले रहनेके बाद एक बर्मी तरुणीके प्रेममें पड़ गये थे। जब मैं सिंव्युजुन आया उसके आस-पास ही उनकी भारतीय स्त्री वहाँ पहुँची थी। उसके आ जानेसे उनका पारिवारिक वातावरण कुछ कलहपूर्ण हो गया था। फिर भी वे बेफिक्र रहते थे। वे सिक्खोंके दसवें गुरु गोविन्दसिहके आदेशानुसार कंघी, कच्छ, कड़ा, कृपाण और केश रखते थे।

मै सिंव्युजुनमे छ मास बेकार रहा। इस अर्समे बर्मी संस्कारों अथवा रीति-रिवाजोके बारेमे बहुत कुछ जानकारी कर सकता था, परन्तु तब इन जानकारियोके लिए एक तो खास जिज्ञासा नही थी और दूसरे भारतीय संस्कार और रहन-सहनके रूढ़िवादी तरीके इस प्रकार हृदयमे घर किये हुए थे कि यकायक नयी दिशामे बढ़नेमे हिचक होती थी। बर्मा-यात्राके कुछ ही समय पहले पूज्यपाद स्वामी शिवानन्दकी "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" नामक पुस्तक पढ़नेको मिल चुकी थी और इस पुस्तकके उल्लेखोमेसे निम्नलिखित नियमोंमेंसे कुछका अपनेपर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा हुआ था।

> "स्मरण कीर्तन केलिः प्रेक्षण गुह्य भाषणम्।
> सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
> एतन्मैथुनमष्टाग प्रवदन्ति मनीषिणः।
> विपरीत ब्रह्मचर्य्यं एतदेवाष्टलक्षणम् ॥"

परन्तु वह किशोरावस्था और युवावस्थाकी सन्धिका समय था और उस अवस्थामें ऐसे नियमोका हृदयमें घर करना कल्याणकारी ही मानना चाहिये। इनके कारण यदि थोड़े-बहुत ज्ञानवर्द्धनसे वंचित रहा जाय तो उसके लिए पश्चात्ताप भी नहीं होना चाहिये।

सिंव्युजुन स्टेशनके सहायक स्टेशन मास्टर एक बर्मी युवक थे। इनका नाम 'चो' था। बर्मियोंमें प्रथा है कि बालकोके नामोंके पहले 'मांग', युवकोके 'को' और वृद्धोके 'ऊ' लगाकर पुकारा जाता है। इसलिए स्टेशन मास्टर श्री उमाशंकर पाण्डेय उन्हें 'को चो' कहकर बुलाया करते थे। इन कोचोकी शादी केवल डेढ़ वर्ष पहले हुई थी और लेखकके सिंव्युजुनमें रहनेके समय उन्हे एक पुत्री-रत्नकी प्राप्ति हुई। निकटतम पड़ोसीके नाते

उनके पारिवारिक जीवनका जिक्र कभी-कभी होना स्वाभाविक था। बर्मियोंमें आम तौरपर गन्धर्व विवाहकी प्रथा है। वर और कन्यापक्षके लोगोंकी स्वीकृतियाँ बहुत कम ही शादियोंमें ली जाती है। 'को चो'की शादी दोनो पक्षोकी अनुमतिसे हुई थी इसलिए वे अपनी शादीपर फख्र किया करते थे। बर्मी गन्धर्व विवाहका तात्पर्य यह है कि "लड़की और लड़केके बीच कुछ समयतक प्रेम चलता रहता है और जब वे एक-दूसरेके प्रति अनुरक्त हो जाते हैं तो घरसे निकल भागते है और 'मधु-चन्द्रिका'की कुछ रातें वे जहाँ-तहाँ बिताते है। फिर वापस आकर बड़े बूढ़ोंसे क्षमायाचनाकी रस्मे पूरी करके दम्पतिके रूपमें रहने लगते हैं।" जो आद्यन्त इसी रीतिका पालन नहीं करते उनका भी प्रेम-जाल तो अनिवार्यतः फैलता ही है और जब दोनो दाम्पत्य जीवनके लिए राजी हो जाते है तब कतिपय बड़े बूढ़ोंके माध्यमसे शादीकी तिथि निश्चित होती है और पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न किया जाता है। 'को चो'की शादी इसी दूसरी रीतिसे हुई थी, जिस कारण वे इसपर नाज करते थे।

'को चो'को जब पुत्री-लाभ हुआ तो बड़ा ही उछाह-बधाव देखनेमें आया। पुत्रीके जन्मके समय असाधारण उत्सव देखकर जब लेखकने पूछा तो मालूम हुआ कि बर्मामे विवाहके बादसे दामाद अपनी ससुरालमे रहने और सास-श्वसुरकी पितृवत् सेवा करने लगता है इसलिए पुत्रीके जन्ममे बर्मी वैसी ही खुशियाँ मनाते है जैसी पुत्रप्राप्तिके उपलक्ष्यमें भारतीय।

सिव्युजुनमे बेकारीके छ मास ऐसे ही कुछ कौतूहलपूर्ण और किंचित् व्यावहारिक ज्ञानवर्द्धक वातावरणके बीच बीते।

हाँ, पारिवारिक बिछोह-जनित उद्विग्नतासे कभी-कभी अधीर हो उठना तो स्वाभाविक था ही। सिव्युजुनकी प्राकृतिक छटाके

वर्णनमे कविसम्राट् 'हरिऔध'जीकी अधोलिखित पंक्तियोंकी आड़ लेना समीचीन प्रतीत हो रहा है—

विलोकनीया इस मञ्जु भूमि मे,
जहॉ तहॉ पादप थे हरे-भरे।
अपूर्व छाया जिनके सुपत्र की,
हरीतिमा को करती प्रगाढ थी।

(प्रियप्रवास)

: ३ :

यमेदिन-आवास

सन् १९३४ के आसपास बर्मामें बेकारी हद दर्जेकी थी। सन् १८२५ के बाद 'लोअर बर्मा'में अंग्रेजोंका अधिकार हो जानेके बाद जिस तरह अन्य नये ब्रिटिश उपनिवेशोंमें शासनकी सहायताके लिए पढ़े-लिखे भारतीयोंको क्लर्क आदि कर्मचारियोंके रूपमें और रेल आदि बिछानेके लिए भारतीय श्रमिकोंको अंग्रेज ले गये, उसी तरह बर्मामें भी भारतीय ले जाये गये। सन् १८८५ के बाद माण्डले और अन्य क्षेत्रोंपर भी अधिकार हो जानेपर रेलोंके विस्तार, जंगल साफकर बस्तियाँ बसाने और कृषि-व्यापारके लिए बड़ी संख्यामें भारतीय जाने लगे। नये उद्योग-धन्धोंके अभावमें एक वक्त ऐसा आ गया कि कामकी तलाशमें भारतसे बर्मा पहुँचनेवाले सभी लोगोंके लिए काम मिलनेमें कठिनाई होने लगी। महीनों बिना कामके रहनेके कारण बेचैनी स्वाभाविक थी, किन्तु मन मारे रहनेके सिवाय और कोई चारा नहीं था। छ मासकी बेकारीके बाद सन् १९३४ के सितम्बर महीनेमें एक एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलके अध्यापकके रूपमें विधि-विधान सिंव्युजुनसे यमेदिन ले आया। यमेदिन सिंव्युजुनसे ३५ मील और रंगूनसे लगभग २६० मील उत्तर बर्माका मध्यम वर्गका नगर और जिलेका सदर मुकाम है। यहाँ तब एक सरकारी हाई स्कूल था, डिस्ट्रिक्ट इंजीनियरका कार्यालय भी था। सरकारी अस्पताल तो था ही, पी० डब्ल्यू० डी०का विभाग और रेलवे लोको शेड आदि भी थे। इन सबमें भारतीय कर्मचारियोंकी संख्या प्रधान

रूपसे थी । परिणामस्वरूप अध्यापकों, डाक्टरों, इञ्जीनियरों और लिपिकोंको मिलाकर यहाँ शिक्षित वर्गके भारतीय अच्छी संख्यामें थे । खेतिहर बहुत ही कम थे। पशुपालक इनसे थोड़ी अधिक संख्यामे थे । ठेकेदारो और दूकानदारोंकी संख्या भी अच्छी थी। सम्भवतः बर्माके अन्य नगरोकी बनिस्बत यमेदिनकी यह विशेपता थी कि अपेक्षाकृत शिक्षित वर्गके भारतीय वहाँ बहुसंख्यक थे ।

जिस विद्यालयने लेखकको आश्रय प्रदान किया था उसका संचालन एक समिति करती थी। इस समितिके अध्यक्ष पं० मेहरचन्द नामक एक पंजाब-प्रान्तीय तथा मन्त्री श्री आदित्य नारायणसिंह नामके उत्तरप्रदेशीय भारतीय थे । दोनो ही सेवा-परायण थे । पंडितजी ७० वर्षीय वयोवृद्ध थे । आप ठेकेका काम करते थे । आपका यमेदिनमे तो बेजोड़ सम्मान था ही, अखिल बर्माके सम्मानित भारतीयोमें भी आप एक थे ।

श्रीसिह सरकारी हाई स्कूलके एक अध्यापक थे। आप अपने जीवनके स्वयं ही विधायक थे । आप पाँचवीं कक्षामे पढ़ रहे थे तब आपकी माता चल बसीं। छठीमे पढ़ रहे थे तभी पिताकी छत्रच्छाया भी सिरपरसे उठ गयी । आपने विद्यालयकी पढ़ाई थोड़े समयके लिए स्थगित कर दी । कुछ कालतक अध्यापन कार्य करके थोड़ा धन-संग्रह करनेमें लग गये । कुछ समय बाद आप फिर रंगून हाईस्कूलकी आठवीं कक्षामें भर्ती हुए । एक ही वर्ष वहाँ पढ़ सके थे कि अर्थाभावके कारण अध्ययन रोकना पड़ा और पुनः अध्यापन-कार्यमे लग गये । महत्त्वाकांक्षा फिर भी बनी रही और आपने प्राइवेट इण्ट्रेन्सकी परीक्षा पास की, अध्यापन-कलाकी ट्रेनिंग ली और कलकत्ता विश्वविद्यालयसे स्नातक परीक्षा पास की। इस समय आप स्वतन्त्र बर्माके कहिन राज्यके एक स्टेट हाईस्कूलके प्रधानाध्यापक हैं ।

अध्यक्ष और मन्त्री, दोनोकी वात्सल्यभरी दृष्टि अपनेपर रहती थी। इनकी छत्रच्छायामें ढाई वर्षतक रहकर जीवनकी भावी मंजिलके लिए बहुत-कुछ पाथेय भी अर्जित करनेका अवसर मिला।

पण्डित मेहरचन्दजी सन् १९४१ की २३ और २५वीं दिसम्बरको जापानियों द्वारा रंगूनपर की गयी बम-वर्षाके बाद मनीपुरके रास्ते पैदल भारत जा रहे थे, जब मार्गमें ही उन्होंने अपनी इह-लीला समाप्त कर दी।

: ४ :

दो अन्तरराष्ट्रीय घटनाएँ

यमेदिन-आवास-कालके संस्मरणोकी चयनिका प्रस्तुत करते हुए दो ऐसी घटनाओंका स्मरण हो रहा है, जो अन्तरराष्ट्रीय महत्त्वकी थी और जिनसे सम्बन्धित चर्चासे यह नगर भी प्रभावित रहा। एक तो बादशाह छठे जार्जका राज्यारोहण समारोह और दूसरा भारत-भाग्यविधाता पं० जवाहरलाल नेहरूका प्रथम बर्मा-आगमन। षष्ठ जार्जका राज्याभिषेक सन् १९३७ मे हुआ। उस समयकी अधिक बातोकी याद तो नहीं है, परन्तु इतना स्मरण है कि यमेदिनमे राज्याभिपेक समारोहके लिए संघटित समितिको महान् कठिनाइयोका सामना करना पड़ रहा था। बंगाली समुदायके भारतीय तो इसके घोर विरोधी थे। एक दिन एक बैठक विचार-विनिमयके लिए बुलायी गयी थी, जिसके आयोजक पं० मेहरचन्दजी और सरदार गुरदत्त-सिंह दो प्रतिष्ठित भारतीय थे। बैठकमें उपस्थित कूटनीतिक व्यक्ति तो विरोधी भावना रखते हुए भी मौनावलम्बन किये हुए थे, परन्तु एक बंगाली युवकसे नहीं रहा गया और उसने खड़े होकर पं० मेहरचन्द और सरदार गुरदत्त सिहको कोसते हुए बहुत-कुछ कहनेके साथ यह भी कह डाला कि "क्या लाला लाजपतराय और सरदार भगतसिहको वहीं पैदा होना था जहाँ आप जैसे लोग पैदा हुए है ?" इस मर्मभेदी वाक्यसे आयोजक विचलित हो उठे, उनकी आँखें डबडबा आयीं। किन्तु वे चुप रहे। आयोजनका कार्य चालू रहा। बर्मियोंमें भी अबतक पर्याप्त

राष्ट्रीय जागरण आ गया था। "नराणां च नराधिपः" अर्थात् मनुष्योंमें मै राजा (भगवान्) हूँ, गीतामे लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्णके इस कथनसे बहुसंख्यक बर्मियोंकी आस्था भी वैसे ही उठ चली थी जैसे राष्ट्रीय विचारधारावाले भारतीयोंकी। साम्राज्यवादी ब्रिटिश सिंहासनारूढ़ सम्राट्को भगवान् मानकर उसकी उपासनाके लिए धूप-दीप-नैवेद्य और दक्षिणा इकट्ठा करनेमें योगदान करनेके निमित्त बर्मियोमेसे भी अधिकांश तैयार नहीं थे। फिर भी, राज्याभिषेक-समारोह तो होना ही था और हुआ। उसका सार्वजनिक स्वरूप सफल नहीं रहा। डिप्टी कमिश्नरने स्वयं कुछ आयोजन किया था, जिसकी चर्चाभर सुनी गयी थी। सम्भवतः बर्माके छोटे-बड़े सभी नगरोमे राज्याभिषेक-समारोहकी यही स्थिति रही, क्योंकि ब्रिटिश शासन-विरोधी आन्दोलनकी लहर तबतक उग्र रूप पा चुकी थी।

भारत-रत्न पं० जवाहरलाल नेहरूका बर्मा-आगमन सन् १९३७ के अप्रैल मासमे हुआ। आपके आनेके समाचारने बर्माके कोने-कोनेमे बहुत पहलेसे धूम मचा रखी थी। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसकी कार्य-कारिणीकी एक बैठक उस वर्ष बनारसमें हुई थी। कांग्रेसकी बर्मा-शाखाके तत्कालीन अध्यक्ष श्री वी० के० दादा चानजी और एक सदस्य श्री रमेश गौतमने बनारस जाकर पण्डितजीको बर्मा आनेके लिए आमन्त्रित किया था। आमन्त्रणा स्वीकार हो जानेके बाद पण्डितजीके बर्मामे रहनेके समयके कार्यक्रमकी एक तालिका भी तैयार हो गयी थी। यह सर्वविदित हो गया था कि पण्डितजी माण्डले, मोलमीन और एनानजाँव जायँगे। फलस्वरूप बहुसंख्यक दर्शकोंके माण्डले जानेकी चर्चा ऊपरी बर्माके सभी नगरोंमें चलनी स्वाभाविक थी। यमेदिनमे भी इसकी चर्चा रही। अनेक दर्शक माण्डले गये और जो नहीं जा सके, ट्रेनसे आते समय उन्होंने स्टेशनपर ही पण्डित-

जीका दर्शन किया। दर्शनार्थी जिज्ञासुओंमें लेखक स्वयं भी एक था, किन्तु इस सम्बन्धके निजी अनुभवोंका ही यहाँ उल्लेख करके सन्तोष करना उचित नहीं लग रहा है, अपितु पण्डितजीकी उस यात्रासे सम्बद्ध बातोंकी जो कुछ जानकारी हो पायी है, उन्हें दिया जा रहा है।

यह अनुमान तो किया ही जा चुका था कि रंगूनमे पण्डितजी के दर्शनार्थियोंकी भीड़ अपार होगी इसलिए सरकारी पुलिसके अतिरिक्त स्वयंसेवकोंकी व्यवस्था भी जितनी समुचित रीतिसे की जा सकती थी, की गयी थी। परन्तु इन्हींसे काम न चल सका और चीनी स्वयंसेविकाओं (चाइनीज गर्ल्सगाइड्स) के सहयोग की आवश्यकता पड़ गयी। उन्होंने भीड़को सँभालनेका जी-तोड़ प्रयत्न किया, किन्तु वे भी असफल रहीं और उनमेंसे तीन आहत भी हो गयीं। आहतोंको उपचारके लिए अस्पताल ले आया गया और जब पण्डितजीके कानोंतक यह बात आयी तो वे स्वयं उन स्वयंसेविकाओंको देखनेके लिए गये।

पण्डितजीके भाषण प्रधान रूपसे समाजवादी के सिद्धान्तोंके निरूपण और एशियाई देशोंमे उसकी आवश्यकतापर जोर देते हुए होते थे। "एशियाकी जनता सदियोंसे साम्राज्यशाहीके पाँवों-तले कुचली जा रही है और इसका अन्त होना चाहिये", इसका विशद विवेचन प्रत्येक स्थलपर किये गये भाषणोंमें वे करते थे। साम्राज्यशाहीके दोषोंका पर्दाफाश करनेमें वे तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। जहाँ-जहाँ वे जाते, ब्रिटिश खुपिया अथवा अन्य विभागोंके उच्चातिउच्च कर्मचारी रिपोर्ट लेनेके लिए साथ रहते और पण्डितजी जब सरकारी व्यवस्थाओंकी आलोचना करते तो उन अधिकारियोंकी ओर इङ्गित करते रहते थे। जब वे माण्डलेसे रंगून आने लगे तो उन्हें लानेवाली रेलगाड़ीके पीछे ही पीछे बर्माके तत्कालीन राज्यपाल (गवर्नर) की स्पेशल ट्रेन भी लगी

हुई आयी। जिन विशेष स्टेशनोंपर उनकी ट्रेनके रुकनेकी सम्भावनाएँ थीं वहाँ घण्टो पहलेसे अपार भीड़ एकत्र हो जाती थी।

पं० नेहरूजीके साथ उनकी सुपुत्री इन्दिरा भी थीं और स्टेशनोंपर देवियाँ बहुधा उनके डब्बेके पास जाकर उन्हें घेर लेतीं थीं और अपनी-अपनी रुचि एवं बुद्धिके अनुसार उनसे प्रश्न करने लगतीं थीं।

बर्माके विभिन्न नगरोंका एक सप्ताहके लगभग भ्रमण करनेके बाद नेहरूजी यहाँसे सिंगापुर गये। सिंगापुरसे वापसीपर भी नेहरूजी रंगून बन्दरगाहसे होकर गुजरे, परन्तु शहर घूमने नहीं आये।

पण्डितजीकी दूसरी यात्रा सन् १९४२ के प्रारम्भमें हुई। आप चीनसे वापस होते हुए यहाँ आये थे। उसके बादसे तो आपका बर्मामें आगमन कई बार हुआ है। नैतिक दृष्टिसे आप बर्माकी बेहतरीकी वैसी ही चिन्ता रखते हुए प्रतीत होते है जैसी भारत की। इसलिए आपकी इन दिनोकी यात्राओको ऐतिहासिक रूप देना अप्रासंगिक होगा।

: ५ :

हिन्दी और हिन्दुत्वके एक अनन्य सेवक

यमेदिनमें रहनेके समय पण्डित हरिवदन शर्माकी प्रशंसा तो सर्वदा सुनता रहता था, परन्तु उनसे पहली बार साक्षात्कार तब हुआ जब लेखकके वहाँ आवासकी अवधि समाप्त-प्राय हो चली थी। सन् १९३७ के मार्चका महीना था, जब आपका एक दिन यकायक यमेदिन पदार्पण हुआ। "बर्माके हिन्दी उप-वनके आप वह माली हैं जिसने इसके पुष्प-वृक्षोंका बीजारोपण किया, उन्हें श्रम-कणोंसे सींचा और उनके सौरभसे सम्पूर्ण दक्षिणी पूर्वी एशियाको सुरभित देखनेकी महत्त्वाकांक्षा रखी"। इसी प्रकार "बर्माके लगभग सभी हिन्दू मन्दिरोंके निर्माणमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे आपका हाथ रहा"। अत-एव यमेदिनके शिवमन्दिरमें

पण्डित हरिवदन शर्मा

दर्शनके लिए कदाचित् आपका वहाँ आगमन हुआ हो तो यह असम्भव नहीं है, अथवा लेखकको दर्शन देकर कृतकृत्य करने वहाँ गये हों, यह भी सम्भाव्य है, क्योंकि आप वहाँ आकर विराजमान थे, जब मैंने मन्दिरमे प्रवेश किया और मेरे प्रवेश करते ही वहाँके पुजारीने उनसे कहा—"लीजिये, आप पूछ रहे थे और ये आ ही गये।" फिर तुरन्त ही पुजारीजीने मेरी ओर मुखातिब हो उन्हें निर्दिष्ट करते हुए बताया "आप ही पूज्य शर्माजी है।" मैं दण्डवत् करके थोड़े समयके लिए स्तब्ध खड़ा रहा। शर्माजीने मेरे विद्यालयकी स्थितिकी बाबत पूछकर उसके अधिकारियोसे मिलनेकी इच्छा व्यक्त की तथा दोनो साथ चल पड़े। सूर्यास्त तो शीघ्र ही हो गया, किन्तु कुछ रात्रि जानेतक जिन-जिनसे मुलाकात सम्भव हो सकी, मुलाकात कर आप उसी रात रंगूनके लिए ट्रेनसे रवाना हो गये।

मैं नहीं बता सकता कि वह कौन-सा अदृश्य ऋणानुबन्ध था जिसने तबसे लेकर अबतक, बीचके थोड़े समयको छोड़, विचारों और कार्य-पद्धतिमे अपेक्षित साम्य एवं आस्था न होते हुए भी अनवरत रूपसे मुझे आपका पदानुगामी बनाये रखा।

बर्मामे हिन्दूधर्म और संस्कृतिका प्रचार करनेवाली प्राचीनतम संस्था 'श्री ब्राह्मण महासभा' है और हिन्दी-प्रचारकी 'अखिल ब्रह्मदेशीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' है। शर्माजी इन दोनोके यशस्वी जनक है। आपके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमें अबतक जो कुछ जानकारी मुझे हुई उसका संक्षेपमे यहाँ उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

शर्माजीका जन्म आश्विन कृष्णाष्टमी, विक्रमी संवत् १९४४ में उत्तर प्रदेशके आजमगढ़ जिलेके हॉसापुर ग्राममे हुआ था। आपके पिताका नाम पण्डित वेणीदत्त और माताका नाम रुक्मिणीदेवी था। संस्कृत-हिन्दी-उर्दू तथा साधारण अँग्रेजीकी शिक्षा आपने

आजमगढ़में ही प्राप्त की थी। वहाँसे कलकत्ता आकर आपने व्याकरण, आयुर्वेद और स्मृतितीर्थकी परीक्षाएँ पास कीं। यहींपर आपने बँगला भाषाका भी अध्ययन किया। सन् १९०९ के अगस्त मासमें आपका बर्मा आगमन हुआ। बर्मा आनेपर आपने जीविकोपार्जनके लिए चिकित्साके साथ-साथ, जैसा कि अधिकांश संस्कृतके विद्वानोंका स्वभावतः झुकाव हो जाता है, यजन-याजनका काम भी चालू रखा।

शर्माजीकी सेवाओंको मुख्यतः दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—एक है हिन्दू-समाजकी सेवा और दूसरी हिन्दीकी।

सन् १९२० के पूर्वतक बर्माके विभिन्न स्थानोंमे नये देवमन्दिरों तथा धर्मशालाओंका प्रतिष्ठापन तथा सुप्रबन्ध करना शर्माजीका काम था। सन् १९२० के पश्चात् जबसे ब्रह्मदेशीय श्री ब्राह्मणमहा-सभाकी स्थापना हुई और बर्माके विभिन्न भागोंमें उसकी शाखाएँ स्थापित की गई, आपकी सेवाएँ विशेष महत्त्व रखती है। इन शाखाओंमें जियावड़ी और पेगूकी शाखाएँ मुख्य थीं। इनके पास अपनी समुन्नत पाठशालाएँ थीं, जिन्होंने हिन्दी-प्रचारमे बहुत बड़ा काम किया। जियावडीके 'श्री ब्राह्मण महासभा स्कूल'का अस्तित्व सन् १९२१ से आजतक अक्षुण्ण बना हुआ है। युद्धपूर्वकालमें यह बर्माका सरकारसे मान्यताप्राप्त हिन्दीका अकेला मिडिल स्कूल था। बर्मापर जापानी आक्रमणके अराजकतापूर्ण कालमें भी यह सेवारत रहा। सन् १९४८ में भारतके राष्ट्रपिता महात्मा गांधीके निधनके बाद उनकी स्मृतिमें इसका नाम 'श्रीगांधी हिन्दी महा-विद्यालय' कर दिया गया। इस समय साहित्य सम्मेलन, प्रयागकी 'साहित्य-रत्न' तककी परीक्षाओंका केन्द्र यहाँ है और इस भाँति बर्मामें हिन्दीकी सेवा और हिन्दू संस्कृति तथा सभ्यताके प्रसारका यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना हुआ है। एक वाक्यमें कहा जा सकता है कि "बर्मामें हिन्दी-प्रचारका इतिहास शर्माजीका

इतिहास है।" सन् १९२० के पहले जब कि, तमिल, तेलुगू, उर्दू आदि भारतीय भाषाएँ पूर्ण विकास कर चुकी थीं और इनको सरकारसे मान्यताएँ प्राप्त हो चुकी थीं, इनके बहुसंख्यक स्कूल यत्र-तत्र-सर्वत्र खुल चुके थे, इन स्कूलोंके लिए सरकारी डिप्टी इन्सपेक्टर नियुक्त थे, जिनके समर्थनपर स्थानीय बोर्ड स्कूलोंकी स्वीकृति करते तथा उनके शिक्षकोंका पूरा वेतन देते थे, हिन्दीकी कोई पूछ नहीं थी। सर्वसाधारणकी दृष्टिमे हिन्दी दरबानोंके बोलनेकी भाषा समझी जाती थी।

इस अवस्थासे मर्माहत शर्माजी हिन्दीके उद्धारके लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हो आगे बढ़े। ब्राह्मण महासभाको आपने अपने उद्देश्यकी पूर्तिका साधन बनाया तथा अपने प्रयत्नको अधिक बलशाली बनानेके लिए सन् १९२३ मे हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी स्थापना की। कई वर्षोंतक साहित्य सम्मेलन ब्राह्मण महासभाका एक अंग बना रहा, फिर सम्मेलनके पूर्ण विकासके लिए इसे सभासे सर्वथा अलग कर दिया गया। इन दोनो संस्थाओके संयुक्त तत्त्वावधानमें हिन्दी भाषा-भाषियोकी तत्कालीन समस्त संस्थाओं-ने पूरा भाग लिया। भारतीय नेताओ और कौंसिल मेम्बरोंने हिन्दीके प्रचारके प्रयत्नोंका पूर्ण समर्थन किया। इनमे सरदार गंगासिह, श्रीरामनिवास बागला, स्वर्गीय सरदार बहादुर डाक्टर आर० एस० डुगल और रायबहादुर सुन्दरसिंहके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। फलतः सरकारी शिक्षा विभागने हिन्दीको मान्यता दे दी और हिन्दी स्कूलोके निरीक्षणका कार्य एक मुसलिम डिप्टी इंसपेक्टरको सौंप दिया गया। इस व्यवस्थाके अन्तर्गत सर्वप्रथम जियावडीके तीन स्कूलोंको टॉगू डिस्ट्रिक्ट बोर्डने मान्यता देकर इनके अध्यापकोका पूरा वेतन देना स्वीकार किया। इस तरह शर्माजीने सारे बर्मामें स्कूल खोलने और उनको सरकारी मान्यता तथा सहायता दिलानेका प्रयास जारी रखा।

यह बर्मामें हिन्दीके प्रचारका आरम्भ-काल था। शिक्षा-विभागमें इसके लिए न एडवाइजरी बोर्ड था, न टेक्स्ट बुक कमेटी थी, न शिक्षण-कलाकी ट्रेनिंगका स्कूल था और न डिप्टी इन्स-पेक्टर ही। इनके बिना हिन्दीका यथेष्ट विकास नहीं हो सकता था; यद्यपि अबतक बर्मामें हिन्दी पढ़ानेके ३६० स्कूल हो गये थे। अतएव, रंगून विश्वविद्यालयके दो प्रोफेसर श्रीरामचन्द्र दुबे तथा श्रीविश्वम्भरनाथ खन्ना और डी० ए० वी० हाई स्कूल माण्डलेके प्रधानाध्यापक श्रीरामचन्द्र भारतीकी एक पाठ्य-पुस्तक निर्धारण-समिति बनायी गयी। इसके कुछ काल बाद सन् १९३३-३४ में सरकारने एक 'कैम्पबेल कमेटी' बनायी, जिसने विभिन्न समुदायोंके नेताओंसे स्कूलोंका विवरण माँगा। तत्कालीन भार-तीय नेता श्री तैयबजीसे भी यह माँग की गयी थी परन्तु उन्होंने केवल उर्दू, तमिल और तेलुगू स्कूलोंके कार्यकर्ताओंको सूचना दी और हिन्दीवालोंको बिलकुल अलग रखा। यह बात जैसे-तैसे शर्माजीके कानोंतक पहुँची और आपने जिस भगीरथ प्रयत्नसे हिन्दीको उचित स्थान दिलाया वह बर्माके हिन्दी प्रचारके इतिहासकी एक अविस्मरणीय घटना है। उस प्रयत्नके फलस्वरूप हिन्दीकी माँगोंपर भी कैम्पबेल कमेटीने विचार प्रारम्भ किया। अन्य वर्नाकुलर भाषाओंकी अपेक्षा इसकी मान्यताके सम्बन्धमें जो कुछ कमियाँ थी उसकी पूर्तिके लिए आश्वासन मिले।

हिन्दीकी ९वीं और १०वीं कक्षाओंकी प्राइवेट परीक्षाएँ होने लगीं। हिन्दी शिक्षाकी एलीमेंटरी ट्रेनिंगके लिए स्कूल खुल गया, जिसके प्रथम आचार्य श्रीगोपालदास बी० ए०, विशारद नियुक्त हुए। हिन्दी स्कूलोंके निरीक्षणके लिए डिप्टी इन्सपेक्टर नियुक्त करनेकी माँग भी स्वीकार हो चुकी थी, और श्रीरामशरनदास जोशी बी० ए०, बी० टी० के नियुक्त होनेकी चर्चा भी चल चुकी थी, परन्तु इसी बीच द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और हिन्दी

शिक्षाके विकासका क्रम रुक गया।

बर्मामें हिन्दू महासभाकी स्थापनाके बाद इसके दो महाधिवेशन हुए। प्रथम अधिवेशनकी अध्यक्षताके लिए पंजाब केशरी लाला लाजपतराय बर्मा आये थे और दूसरेके लिए श्रीनेकीराम शर्मा। दोनो अधिवेशनोंके प्रमुख प्रबन्धक शर्माजी थे।

सन् १९२३ में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके गयामें होनेवाले अधिवेशनमें शर्माजी बर्मासे प्रतिनिधि होकर गये थे। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके देहरादूनमे होनेवाले अधिवेशनमे आपने यहाँसे प्रतिनिधिके रूपमे भाग लिया था। आपने आगामी वर्षका अधिवेशन बर्मामे करनेकी माँग की थी। इसके बाद उक्त सम्मेलनके पटना और भरतपुरमे होनेवाले अधिवेशनोंमें भाग लेनेके लिए भी आप बर्मासे गये थे।

बर्मामे हिन्दीका सवप्रथम मासिक पत्र 'विश्वदूत' आपने ही प्रकाशित किया था। पीछे वह दैनिक हो गया था। इसकी 'विश्वदूत कम्पनी' बनायी गयी थी जो कुछ काल बाद छिन्न-भिन्न हो गयी और पत्र भी बन्द हो गया। फिर तो 'हिन्दी सन्देश', 'बर्माबन्धु', 'बर्मा समाचार, 'हिन्दी-पत्रिका', 'परिवर्तन', 'प्राची-प्रकाश', 'नवजीवन' और 'प्रवासी'के प्रकाशन हुए और इनमेंसे कुछका प्रकाशन अब भी जारी है।

बर्माके हिन्दी प्राइमरी स्कूलोके लिए पाठ्य-पुस्तकोकी कमी थी और उसकी पूर्ति भी आपने की। सिगापुरसे आमन्त्रण आनेपर बर्मासे दो बार आप वहाँ भी धार्मिक प्रचारके लिए गये थे।

बर्माके जेलोके शौचालयोमें पानी नही रहता था इस कारण भारतीय बन्दियोंको असुविधाएँ हुआ करती थी और इसी भाँति यात्रियोंको विभिन्न स्टेशनोपर भोजन-पानीकी कठिनाइयाँ होती थीं। इन असुविधाओंको दूर करनेमें शर्माजीने परिपूर्ण प्रयास

किया और बहुत-कुछ असुविधाओंके निराकरणमें वे सफल रहे ।

शर्माजीने आयुर्वेदके भी अनेक विद्यार्थी तैयार किये । बर्मामें कदाचित् सर्वप्रथम दातव्य औषधालय 'छगनलाल दातव्य औषधालय' माण्डलेमें आपने खुलवाया और उसमें अवैतनिक काम किया । पीछे आप काफी अर्सेतक उसके सुपरिण्टेण्डेण्ट रहे ।

अध्यायका अन्त करते हुए कुछ उन विशिष्ट व्यक्तियोंके नामोंका उल्लेख कर देना चाहता हूँ, जिन्होंने इन्हें इन सेवाओंमें लगे रहनेमें उन्हें एक-न-एक प्रकारसे सहयोग दिया । इनमें जियावडी जागीरके मैनेजर स्वर्गीय पं० धनुषधारी पाण्डेयका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है ।

हिन्दी-प्रचारके कामोंमें स्कूलोंके अध्यापकोंका योगदान कुछ कम महत्त्व नहीं रखता । श्रीब्राह्मण महासभाके रंगून स्थित ब्रह्मविद्यालयके प्रधानाध्यापक पं० महादेव पाठक, जियावडी श्रीब्राह्मण महासभा मिडिल स्कूलके प्रधानाध्यापक स्वर्गीय रामहर्ष सिंह, हिन्दी स्कूल टॉगूके प्रधानाध्यापक स्वर्गीय पं० रामसागर पाण्डेय और उनके सहायक सर्वश्री देवनारायण पाण्डेय, लालगति सिंह, श्यामनारायण तिवारी, शम्भूनाथ पाण्डेय और रामदेव वर्मा तथा पिन्मना हिन्दी स्कूलके प्रधानाध्यापक स्वर्गीय पं० रामबली पाण्डेय और थाजी हिन्दी विद्यालयके प्रधानाध्यापक पं० रामनिरंजन दूबे आदिके नाम भी हिन्दी सेवाके सिलसिलेमें उल्लेखनीय हैं ।

आपके वर्तमान सहयोगियोंमें श्रीगान्धी हिन्दी महाविद्यालय जियावडीके प्रधानाचार्य हिन्दीके नैष्ठिक सेवक श्री रामगोविन्द वर्मा और मित्रों अथवा बन्धुओंमें सौजन्यकी प्रतिमूर्ति रंगूनकी अनेक संस्थाओंके एक सबलतम स्तम्भ बर्मा रेलवेके एक इंजीनियर वयोवृद्ध पण्डित ठाकुरप्रसाद पाण्डेय बी० एस-सी० आनर्स, बी० एस-सी० इंजीनियरिंग हैं ।

भारतमें दो वर्षोंतक तीर्थाटन आदि करनेके पश्चात् सन् १९५१ मे जब शर्माजीका बर्मा पुनरागमन हुआ तो श्रीब्राह्मण महासभा और हिन्दी साहित्य-सम्मेलनने संयुक्त रूपसे आपके अभिनन्दनका आयोजन किया था। बर्मा स्थित तात्कालिक भारतीय राजदूत महामहिम डाक्टर एम० ए० रऊफने आयोजन-को संरक्षण प्रदान किया था तथा अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेसके अध्यक्ष स्वर्गीय सरदार बहादुर डाक्टर आर० एस० डुगलने सभापति-पद सुशोभित किया था। समारोहका संयोजक रहनेका सौभाग्य तो लेखकको ही प्राप्त हुआ, किन्तु अभिनन्दनपत्र तैयार करनेमे ब्रह्मदेशीय लब्धप्रतिष्ठ वयोवृद्ध विद्वान् पण्डित भोलाराम जोशी, काव्यतीर्थ, व्याकरणाचार्यका श्रेय विशेष है। शर्माजीके व्यक्तित्वकी तुलना करते हुए पण्डित भोलारामजीने संस्कृतके महाकवि भारविकी निम्नलिखित पंक्तियोंका उद्धरण दिया था—

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्राश्रिताश्चतरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव पदाश्रयेण कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनानि॥

सुमेरुगिरि किस कामका, जिसके आश्रित वृक्ष जैसेके तैसे रहते हैं। हम तो उस मलय गिरिकी प्रशंसा करते हैं जिसके आश्रित कंकोल, निम्ब, कुटज आदि भी चन्दनके समान हो जाते हैं।

: ६ :

'स्वराज्य'के मन्त्रदाता तिलककी निर्वासनभूमि मिक्टिला

'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' मन्त्रके उद्‌गाता बालगंगाधर तिलकको अँग्रेजी सरकारने भारतसे निर्वासित कर कुछ वर्षोंके लिए बर्माके विभिन्न जेलोंमे रखा था, इसका ज्ञान भारतसे प्रस्थान करनेसे पहले ही मुझे हो चुका था। बर्मामें ही लिखे गये उनके ग्रन्थ-रत्न 'गीता-रहस्य'की भी प्रशंसा सुनी थी। पर इसकी कब कल्पना हो सकती थी कि यह 'प्रवास-काल' बर्माके उस नगरमे भी कुछ समय बितानेका सौभाग्य प्रदान करेगा जहाँकी काराकी एक कोठरीमें कुछ समयतक उस महा-मान्य तिलकने भी निवास किया था।

ढाई वर्षोंके यमेदिन-आवासके बाद मेरा मिक्टिला आना हुआ। यह आबादी और क्षेत्रफलकी दृष्टिसे एक साधारण-सा नगर है, परन्तु महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रखता है। मिक्टिला चारों ओरसे एक झीलसे घिरा हुआ है। इस झीलकी मरम्मत बर्मी राजा 'अनवरठा'(अनिरुद्ध)ने करायी थी। अनिरुद्ध-ने सन् १०४४-७७ तक राज्य किया। ये बर्मी पगान वंशके सबसे प्रतापशाली राजा माने गये हैं। इस झीलने मिक्टिलाको अनुपम सौन्दर्य एवं सुविधाएँ दे रखी है। नगरसे बाहर पूर्वी छोरपर एक कब्रिस्तान है। इसमें बनी विचित्र कब्रोंपर दृष्टि पड़ते ही इच्छा हो उठती है कि "यह कब और क्यों बना, आदि

बातोंकी जानकारी की जाय।" लोग बताते हैं कि सन् १९१४ से १९२१ तक जो विश्वयुद्ध चला था उसमें ब्रिटिश सरकारने युद्ध-बन्दी सैकड़ो तुर्क सैनिकोंको यहाँ रखा और उनकी ज्यों-ज्यों मृत्यु होती गयी त्यों-त्यों वहाँ कब्रें बनती गयीं। तुर्क सैनिक जैसे विशालकाय थे वैसी ही बड़ी उनकी कब्रें भी बनी हैं।

उन दिनों मिक्टिलामें भारतीयोंकी अच्छी बस्ती थी, कोई दो हजार भारतीय परिवार तो होंगे। पहलेकी पाँच हजारकी भारतीय आबादी अब एक हजार ही रह गयी है। मिक्टिलाके अधिक नहीं तो एक भारतीय परिवारकी स्थितिका विवरण देना इस अध्यायके महत्त्वको बढ़ानेके समान लग रहा है। यहाँ पंजाब प्रान्तीय एक वैभवशाली और वैसे ही दानशील श्रीसोहन-सिंह नामके भारतीय थे। आप लगातार बहुत दिनोंतक मिक्टिला स्टेशनके अधिकारी रहे थे। इस कार्य-कालमें उन्होंने लाखोंकी सम्पत्ति जोड़ ली थी। लेखकके मिक्टिला पहुँचनेसे लगभग दो वर्षों पहले श्रीसोहनसिंह स्वर्गवासी हो चुके थे। उनकी बर्मी स्त्रीसे पैदा इकलौती पुत्री लीलावती देवी थीं। सोहनसिंह बड़े ही नैष्ठिक आर्यसमाजी थे। उन्होंने लीलावतीको भारतके एक कन्या महाविद्यालयमें भेजकर शिक्षा दिलायी थी। इन स्नातिका लीलावतीकी शादी भी गुरुकुलके एक स्नातक श्री के० सी० वर्मासे हुई थी।

श्रीसोहनसिंह मरते समय ४५ हजार रुपयेकी एकमुश्त रकम आर्यसमाजके विभिन्न प्रचार-केन्द्रोंके लिए संकल्प कर गये थे। रंगून और माण्डलेके आर्यसमाजोंके लिए आपने १५-१५ हजार रुपये, और मिक्टिला आर्यसमाज तथा माण्डले कन्या पाठशाला और रंगून अनाथालयके लिए ५-५ हजार रुपये देनेके निमित्त अपने उत्तराधिकारियोंको निर्देश कर दिया था।

पानी बाढ़ै नावमे, घरमे बाढै दाम।
दुहूँ हाथ उलीचिये, यहि सज्जनको काम ॥

इस आदर्शको श्री सोहनसिह आजीवन काफी ऊँचे स्तरपर निभाते आये थे। वस्तुतः मिक्टिलामे आर्यसमाज-विषयक कार्योंका तो यह परिवार प्राण था ही, सम्पूर्ण बर्माके लिए यदि इसे एक प्रेरणा-स्रोत कहा जाय तो भी अनुचित न होगा।

मिक्टिलामें सनातनियो और सिक्खोंके मन्दिर भी अच्छे थे। इसी मिक्टिलाके कारागृहमें वह कोठरी भी थी, जिसमे प्रातः-स्मरणीय लोकमान्यजी कुछ समयतक रखे गये थे। आपके निर्वासनकालका अधिक भाग माण्डलेमें ही बीता था। इसलिए सन् १९५५ के अगस्त महीनेसे जब एक भारतीय राष्ट्रीय नेता आदरणीय श्री एस० के० पाटिल बर्मा-भ्रमणके लिए आये तो उन्होने माण्डलेकी यात्रा विशेपतया इसी अभिप्रायसे की कि वे वह विशिष्ट स्थान देख सकें, जहाँ लोकमान्यजीने निर्वासन-कालका अधिकाधिक समय बिताया और 'गीतारहस्य' लिखा। आपने वह स्थान देखा, जहाँपर 'गीता-रहस्य' का प्रणयन किया गया था। आपने बर्मा और भारतकी सरकारोको 'तिलक स्मारक' बनवानेके लिए भी राजी किया। बर्मामें वर्तमान भारतीय राजदूत महामहिम श्रीलालजी मेहरोत्राकी देख-रेखमे लगभग ५० हजारकी लागतसे उक्त स्मारक बनकर तैयार भी हो गया है।

: ७ :

बर्मी-मुस्लिम दंगेका अनुभव

प्रारब्ध निश्चय ही महाप्रबल होता है। उस नगर मिक्टिला-को भी, जिसे भारतीय स्वतन्त्रताके मन्त्रदाता लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक ने पवित्रता दी थी, जिसकी प्राकृतिक स्थिति मनोहर ही नहीं बल्कि चिकित्सकोंके कथनानुसार 'राजयक्ष्मा' के रोगी को भी आरोग्यता प्रदान करनेवाली थी, छोड़ने की स्थिति आ गयी और साथ ही जीवन-व्यापार बदलनेका भी संयोग बन गया। सन् १९३७ के जुलाई मासमें मिक्टिला आना हुआ था और सन् १९३८ की फरवरी तक वहाँ अध्यापन-कार्य करता रहा। वहींसे 'ब्रुक बांड इण्डिया लिमिटेड' नामकी चायकी एक कम्पनीका सहायक डिपोमैनेजर नियुक्त होकर 'बसीन' आया। 'बसीन' मे केवल दो मास रहा और फिर प्यापोन डिपोका कार्य-भार स्वतन्त्र रूपसे सँभालनेके लिए भेज दिया गया। प्यापोन-डिपोका प्रबन्धक-पद सहा नहीं। शीघ्र ही नौकरीसे त्यागपत्र दे अलग हो गया।

सन् १९३८ की २२ जुलाईको लगभग ४ बजे 'ब्रुकबाण्ड'-कार्यालयमें त्यागपत्र देकर पण्डित हरिवदन शर्माके पास आकर बैठा ही था कि उसके दो घण्टे बाद सायंकाल लगभग ६ बजे एकाएक एक सज्जनने आकर कहा, "बर्मियो और मुसलमानोंमें दंगा शुरू हो गया—दूकानें लूटी जा रही हैं।" पण्डितजीको इसकी पृष्ठभूमिका पता था इसलिए उन्होंने सहसा सवाल किया "आज क्या हुआ है?" संवाददाताने कहा—"४ बजेसे

सभा थी और वहाँसे ज्यों ही जुलूस निकला, दंगा शुरू हो गया।" श्वेपी नामक एक बर्मी मुसलिम मौलवीने एक पुस्तक बर्मी भाषामें लिखी थी, जो इस दंगेका कारण बनी। पुस्तकके जिन अध्यायोंके कारण फैली उत्तेजनाके फलस्वरूप खून-खराबी हुई उन्हे यहाँ उद्धृत करना उचित नहीं। उस बाबत केवल इतना ही कहना अलम् होगा कि पुस्तकमें भगवान् बुद्धतकके व्यक्तित्वपर आक्रमण किया गया था। यह प्रहार बौद्ध मतावलम्बियोंको असह्य हुआ। जब कभी बौद्धोसे चर्चा चलती है तो वे कहते है कि "बुद्धधर्मके सिद्धान्तोंकी आलोचनातक ही यदि 'श्वेपी' सीमित रहते तो ऐसी विषम स्थितिका सर्जन न होता। उन्होने तो 'अमिताभ' और उनके 'परिवार'के अन्य जनोपर भी कीचड़ उछाला था—भ्रष्टचरित्र, आदिकी संज्ञा दी थी। यदि राम, कृष्णकी निन्दा हिन्दू, जेसस क्राइस्टकी ईसाई, पैगम्बर मुहम्मदकी मुसलमान न बर्दाश्त कर सकते हों तो बौद्ध मतावलम्बी भगवान् बुद्धके चरित्रकी भर्त्सना क्योंकर गवारा करने लगे ?" उनकी यह दलील यथार्थ ही प्रतीत होती है।

उस दंगेका जो अनुभव मुझे स्वयं हुआ था वह भी उल्लेखनीय है। दंगा शुरू होनेके तीसरे दिन मैं रंगूनसे प्यापोनके लिए चल पड़ा। अधिक विलम्ब नहीं कर सकता था, क्योकि जीवनव्यापार बदलनेके साथ ही आश्रम भी बदल गया था—साथ रहनेके लिए परिवार भारतसे बर्मा आ गया था, जिसे प्यापोन छोड़कर आया था। रंगूनसे प्यापोनके लिए लॉच (छोटे जहाज) से जाना पड़ता था। प्रातःका चला आदमी संध्यातक पहुँच जाता था। पहुँचते ही मै वहाँके सिविलसर्जन डाक्टर प्यारेलाल बहलसे मिलने चला गया। डाक्टर बहल प्रत्येक अर्थमें बहुत बड़े थे और मुझपर स्नेह रखते थे। वे बड़े अच्छे वक्ता और बहुमुखी गम्भीर अनुशीलन करनेवाले व्यक्ति थे। वे प्रत्येक

रविवारको सायंकाल हिन्दू-मन्दिरमें आते और गीताका पाठ सुनाया करते थे। सिविलसर्जन बहल ईश्वरवादी और अंशतः गान्धीवादी भी थे। सन् १९१४ की लड़ाईमे वे डाक्टरकी हैसियतसे युद्धक्षेत्रमें ब्रिटिश सरकारकी ओरसे भेजे गये थे। वहाँ उन्हें रिवाल्वर लेकर जाना था। रिवाल्वर लेनेका लाइसेन्स जिस दिन उन्हें मिला उसके बादकी रातको सन्त हातिमताईके जीवनका एक वृतान्त उन्हें पढ़नेको मिल गया। हातिमताई किसी जंगलमें पैदल गये और वहाँ से जब लौटे तो शेरपर सवारी किये हुए आये। जिन लोगोंने उन्हें जाते हुए देखा था और फिर आते भी देखा तो आश्चर्यचकित हो उनसे पूछा कि "इस खूँख्वार शेरने आपपर वार नहीं किया ?", इसपर हातिमताईने जबाब दिया कि "जब मेरे मनमें उसे हानि पहुँचानेकी भावना नहीं है तो वह मुझे क्यों हानि पहुँचायेगा।" बस इसी आख्यानने डाक्टर बहलकी धारणा ही आमूल बदल दी। उन्होने तै कर लिया कि रिवाल्वर नहीं खरीदेंगे, बिना रिवाल्वरके ही युद्ध-क्षेत्रमें जायँगे। उन्होंने वैसा ही किया और जबतक वे लड़ाईके मैदानमें रहे उनकी कैम्प सर्वदा ही इतनी दूर रही कि गोलीकी आवाज तक कभी सुननेमें नहीं आयी। सन् ११३८ की २६ जुलाईकी शामको जब मैं मिलने गया तो थोड़ी ही देरकी बातचीतके बाद अँधेरा होने लगा। मैंने वापस जानेकी जैसे ही आज्ञा माँगी उन्होने ड्राइवरको आवाज दी और कहा कि "जाओ पंडितजीको पहुँचा आओ।" परन्तु 'होता वही है जो मंजूरे खुदा होता है।' मुझे तो बर्मी-मुस्लिम दंगेकी लपटका व्यक्तिगत तौरपर अनुभव होना था। कदाचित्, इतने पुरजोर लफ्जोंमें मैंने कभी और किसीसे प्राप्त ऐसी सुविधाको न अस्वीकार किया होगा, जैसी अस्वीकृति डाक्टर साहबको दी और वहाँसे पैदल ही चल पड़ा। प्यापोन शहर रंगून नदीके एकदम किनारे पर बसा

हुआ है। डाक्टर बहलके बँगलेसे अपने घर आनेके रास्ते भी दो थे। परन्तु मैं नदीके किनारेके रास्तेसे आ रहा था। जहाँ छोटे जहाज (लॉच) लगा करते थे, वहाँ ज्यों ही पहुँचा, सामनेसे चार बर्मी हाथमें चमचमाते दाव लिये हुए आ पहुँचे। पीछे ज्ञात हुआ कि वे नदीके किनारे ४-६ चटगाँवीं मुसलमान मछुओंको मारकर आ रहे थे। वे खड्गहस्त तो थे ही और उन्होंने मुझपर भी दाव उठा लिये। परन्तु मेरे मुसलमान होनेमें उन्हें कुछ सन्देह हुआ और प्रश्न कर बैठे "खोटोला ?" अर्थात् "चटगाँवी मुसलमान हो ?" मैंने झट जनेऊ निकालकर दिखाया और कातरतापूर्ण मुद्रामे कहा "महोबूब्या", नहीं जी। इस पर वहाँसे तो अभयदान मिल गया, परन्तु आगे आया तो फिर कुछ शोरगुल सुनाई पड़ा। भयभीत होकर पासके एक 'काका', दक्षिण भारतीय मुसलमानकी चायकी दूकानमें घुस गया। वहाँ जो लोग थे सभी घबराकर ऊपरके तल्लेपर चढ़ गये थे। चन्दमिनटोंके बाद ख्याल आया कि यह तो भूल हुई है। मुसलमानका होटल है और यहाँ सुरक्षाकी आशा कर रहा हूँ ? इस संकल्प-विकल्पमें पड़ा ही था कि नीचेसे आवाज आयी और सब लोग दो-तल्लेसे उतर आये। देखनेपर पता चला—पुलिसने आवाज दी थी।

वहाँसे अपने रहनेका घर दो फर्लांगपर था। जैसे-तैसे पहुँचा। जिस घरमें रहता था उसके आधे हिस्सेमें एक बर्मी परिवार था। घरकी मालकिन एक वृद्धा थी। वह दरवाजा खोले खड़ी मेरी राह देख रही थी। यह पहली घटना है जब मैंने अनुभव किया कि "अपेक्षाकृत अन्य विदेशियोंके हिन्दुओंको बर्मी अधिक स्नेहसे देखते और अपना मानते हैं।" उस वृद्धाने मेरी अनुपस्थितिमें मेरे परिवारकी भी देख-रेख उसी प्रकार की थी, जैसे अपने पुत्र-पुत्रियों की। दंगा और कई दिनोतक भी चलता रहा और वह सर्वदा हम लोगोंकी रक्षाके लिए जागरूक रहती। बार-बार कहा करती "हमारे बुद्ध भगवान् भी तो एक हिन्दू राजाके बेटे थे।"

: ८ :

बर्माकी भारतीय बस्ती जियावडी

'ब्रुकबांड', इंडिया लिमिटेडकी नौकरी छूटनेके बाद फिर 'वैतलवा डारकी डार' हुआ। पुनः अध्यापन-कार्य लेकर चलनेका ही दैवयोग जुट गया। रंगूनसे १४५ मील उत्तर जियावडी नामका एक स्थान है। इसे पहले 'जयवती' अथवा राजागॉव कहा करते थे। 'राजागॉव' नाम पड़नेका एक विशेष कारण है। एक भारतीय जागीरदार (राजा) ने इसे आबाद किया है, इसलिए इसका आदि नाम 'राजागॉव' पड़ा। जांगीर मिलनेके सम्बन्धकी अनेकमेंसे एक जनश्रुति इस प्रकार है। बर्मापर कब्जा करनेके बाद अंग्रेजी सरकारने भारतमें विज्ञप्तियॉ प्रकाशित कीं कि "यदि वहॉका कोई राजा बर्माका कुछ जंगली भूभाग 'ग्राण्ट' (पट्टा) के रूपमें (सीमित अवधिके लिए) लेकर आबाद करना चाहे तो वह ले सकता है।" राजा-महाराजाओने यह कहकर कि "राजासे जागीरदार बनने क्यों जायँ", विज्ञप्तियोंकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्हीं दिनों बिहार प्रांतके डुमरॉव रियासतके श्री जयप्रकाशलाल नामक एक नीतिकुशल दीवान थे। आपने रियासतके महाराजसे कहा कि "क्यों न मेरे लिए ही कुछ जंगल बर्मामें ले लेनेका अनुग्रह किया जाता।" कहा जाता है कि राजाकी ओरसे तो कोई आपत्ति नहीं थी, परन्तु कठिनाई यह थी कि ब्रिटिश सरकार राजाको ही ग्रांट (पट्टा) देना चाहती थी। दीवानका आग्रह बढ़ता ही गया और अन्ततः डुमराँव महाराज सहमत हो गये। ग्रांटकी लिखा-पढ़ी दीवानके निमित्त

पूरी कर ली गयी, आगे चलकर यही ग्रांट भारी विवादका कारण बनी। तत्कालीन डुमरॉव महाराजके और फिर रानीके भी देहान्तके बाद राजाके भतीजे श्री केशवप्रसाद सिंहने जब रियासतका कार्यभार सँभाला तो उनसे किसी कारण दीवानसे मतभेद हो गया और "जियावडी ग्राण्टका मालिक कौन ?" इस प्रश्नको लेकर मुकदमा चल पड़ा, जिसका समझौता विलायतमें 'प्रिवी कौंसिल'में जाकर हुआ। दीवानकी ओरसे स्वर्गीय पं० मोतीलाल नेहरू तथा राजाके पक्षसे देशबन्धु चितरंजनदास जैसे वकील थे। समझौतेके अनुसार जियावडी ग्राण्ट लेनेके बदले भारतकी लाखोंकी जमींदारी दीवानको राजाके लिए छोड़नी पड़ी। श्री जयप्रकाशलाल सन् १८९७ में पहली बार बर्मा आये थे और उसके बाद आपने पं० लल्लूराम पाण्डेय नामके आरा जिलेके एक अवकाशप्राप्त पुलिस-इंसपेक्टरको जंगल आबाद करनेके लिए जियावडी (बर्मा) भेजा।

बिहारसे दलके दल किसान जंगल काटकर भूमिको खेती योग्य बनानेके लिए भेजे जाने लगे। जब ये किसान यहाँ पहुँचे तो जंगल साफ करनेमे विविध विपत्तियो एवं खतरोंका सामना करना पड़ा था। जंगल भयावह जन्तुओं और जानवरोंसे भरा पड़ा था। कमसे कम शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि सन् १८९७ के बादसे, जब श्रीजयप्रकाश, बर्मा (जियावडी) भ्रमण करके वापस गये, अगले कुछ वर्षोंतक जो किसान यहाँकी भूमि आबाद करनेके लिए आये उनकी पहली पीढ़ीने किसी रूपमें भी किंचिन्मात्र भी शान्ति और सुखका अनुभव नहीं किया। इन्होंने सुख-शान्ति होमकर और अपनी जानको हथेलीपर रखकर इस भू-भागको रहने एवं खेती करने योग्य बनाया।

श्रीलल्लू पाण्डेय जियावडी ग्राण्टके प्रथम प्रबन्धक थे और उनके बाद अपूर्व प्रतिभा-सम्पन्न एवं नीतिज्ञ उनके सुपुत्र

श्री धनुषधारी पाण्डेय प्रबन्धक हुए। ब्रह्मदेशीय श्री ब्राह्मण महासभाके जनक पण्डित हरिवदन शर्माके वे अनन्य एवं अभिन्न-हृदय मित्र थे। शर्माजीकी प्रेरणासे उन्होने एक विद्यालयकी स्थापना सन् १९२१ में की थी, जो अंकुरित होते-होते सन् १९३७ तक हिन्दी मिडिल स्कूलके नामसे हिन्दीमें शिक्षा-दीक्षाका प्रबन्ध करनेवाला सरकारसे मान्यताप्राप्त बर्माका एकाकी स्कूल था। उस समय उसके लिए एक प्रधानाध्यापककी नितान्त आवश्यकता थी, उक्त पदको सँभालनेवाले महानुभाव ६९ वर्षीय वयोवृद्ध थे। प्रशिक्षण-कलामें उत्तीर्ण होनेका प्रमाणपत्र लेखकके पास न होनेके कारण वह विधिवत प्रधानाध्यापक होकर नहीं जा सकता था, एतदर्थ, सहायककी हैसियतसे वहाँ नियुक्त कर दिया गया। उन दिनो जनता द्वारा संचालित बर्माके अच्छे स्तरके विद्यालय अर्ध-सरकारी होते थे। परीक्षाएँ सरकारके शिक्षा-विभागकी ओरसे ली जातीं थीं, परन्तु व्यवस्था विद्यालयो की प्रबन्ध समितियाँ करती थीं। अध्यापकोकी नियुक्ति समितियो-द्वारा करके जिला शिक्षा-आयोगको सूचना दे दी जाती थी। विद्यालयकी स्थितिके अनुसार आयोग सहायता मंजूर करता था। वह कुछ ट्रेण्ड अध्यापकोको वेतन देता था और शेष गुरुवर्ग समितियोकी दयादृष्टिपर ही आश्रित था। शीघ्र ही शिक्षा-विभागकी ओरसे एक नया अध्यादेश जारी हुआ। इस अध्यादेशके अनुसार सरकारसे मान्यता-प्राप्त विद्यालयोमे अनट्रेण्ड अध्यापक किसी प्रकार भी नहीं रखे जा सकते थे। परिणामस्वरूप मुझे प्रबन्ध समितिकी दयादृष्टिसे मुक्ति मिल गयी। इन दिनों यों तो अनेक व्यक्तियोके सम्पर्कमे आनेका अवसर मिला था, परन्तु केवल उस आदर्श चरित्रवान् पुरुषका ही मै यहाँ स्मरण करना चाहता हूँ जिसके जीवनको थोड़ा भी परखने-का प्रथम अवसर इस अध्यापन-कालमें मुझे मिला। वे थे

जियावडी ग्राण्टके तत्कालीन मालिक स्वर्गीय रायबहादुर श्री हरिहरप्रसाद सिंह। उनकी पौत्रियोंको पढ़ानेके सिलसिलेमें पहले-पहल उनके सन्निकट आना हुआ। रायबहादुर साहब बहुत ही सादे जीवनके व्यक्ति थे और दूसरोंको भी सादा ही देखना पसन्द करते थे। कर्मसे न सही, जन्मसे ब्राह्मण जानकर वे इज्जत करते थे। बच्चियोंको राजमहलमें ही जाकर पढ़ाना था और उसके निमित्त बातचीत करने जब मैं श्री ब्राह्मण महासभा मिडिल स्कूलके प्रधानाध्यापक ठाकुर रामहर्ष सिंहके साथ उनके समक्ष गया तो उस समयकी दो बातें स्पष्ट रूपसे स्मरण हैं। पहली बात तो यह कि ठाकुर रामहर्ष सिंहके मुखसे योग्यता आदिकी बातें सुननेके बाद उन्होंने पूछा "हैं कौन"? इसपर ठाकुरसाहबने ज्यों ही कहा, 'ब्राह्मण', त्यों ही वे बोल पड़े "कोट भी डॉटे है और अँग्रेजी ढंगके बाल भी रखे है", लेकिन जब मै चलने लगा तब शिष्टाचारपूर्वक पालागन किया और दूसरे दिनसे पढ़ाना आरम्भ करनेका आदेश दिया।

वे करोड़पति थे लेकिन कपड़े अत्यन्त सादे पहनते थे। विशुद्ध शाकाहारी थे और नशेके नामपर केवल सिगरेट पीते थे। बहुत ही दूरदर्शी थे। छोटेसे छोटे कामोंकी भी चिन्ता रखते थे। साधारणसे साधारण बातें भी जानना चाहते थे।

विगत विश्व-युद्धके बाद सन् १९४७ के फरवरी महीनेमें जब मैं बर्मासे आरा (बिहार) उनसे मिलने गया तो उन्हे जियावडीके किसानोंके भविष्यके प्रति अत्यन्त चिन्तित पाया। उन्हें यह निश्चय हो गया था कि बर्माकी राजनीतिक स्थिति बदलने जा रही थी और इसलिए जियावडीका भविष्य भी बदलना अनिवार्य था। लगभग एक सप्ताहतक मैं आरामे रहा और वे नित्य ही सब तरहके हालात पूछते रहे। जियावडी ग्राण्ट और चीनी मिलके प्रबन्धकोंको बार-बार लिखकर भेजते

थे कि "ऐसी स्थिति कदापि न पैदा होने पाये जिससे पास-पड़ोसके बर्मी रंज हों। यदि वहाँ रहना है तो उनसे मिलजुलकर ही रहा जा सकता है।" उन्हें जियावडी और वहाँके किसानोंसे आन्तरिक मोह मालूम पड़ता था। किसानोंको भारतसे बर्मा लाकर बसानेकी जिम्मेयारीको वे खूब महसूस करते थे। जियावडी ग्राण्टको प्राप्त और आबाद करनेमें जो मूल्य उन्होंने अथवा किसानोंने अदा किया था उसे भला भूल भी कैसे सकते थे! रायबहादुर साहब उस समय भी थोड़े अस्वस्थ थे लेकिन यह अनुमान नहीं था कि वे इतनी जल्दी स्वर्गवासी हो जायँगे। कैंसरकी शिकायत थी। उसका इलाज करानेमें उनके पुत्र श्री चन्द्रदेवप्रकाश सिनहाने कोई कसर-कोर नहीं रखी लेकिन मौतका तो कोई इलाज होता नहीं। सन् १९५१ के प्रारम्भमें उनका आरामें शरीरान्त हो गया। उस समय मैं बर्मामें ही रंगूनके एक हिन्दी दैनिक "प्राची-प्रकाश"-का सम्पादन कर रहा था। उनके देहान्तका समाचार सुनकर सबसे अधिक पीड़ा तो यह सोचकर हुई कि "राय बहादुर साहब जियावडीके किसानोंको अनाथ छोड़कर चल बसे!" जियावडी जागीरके मालिक और किसानोंके बीच थोड़ा-बहुत संघर्ष सर्वदा ही चलता आया था, परन्तु सन् १९३५ से इसका रूप अधिक उग्र हो गया था। पं० धनुर्धारी पाण्डेय, जो जागीरके प्रबन्धक थे कुछ कारणवश इससे अलग हो गये। उनका प्रभाव पास-पड़ोसमें काफी बढ़ा हुआ था और उन्होंने इसका उपयोग किसानोंकी ओरसे मालिकके विरोधमें चालू आन्दोलनके लिए किया। किसानोंकी विविध माँगें सरकारके सामने होने लगीं। लेकिन इसकी सुनवाई अंग्रेजोंके रहनेके समयतक नहीं हो पायी थी। सन् १९४७ मे जब बर्मा स्वतन्त्र हो गया और अंग्रेजी भूमि-व्यवथा उठ गयी तो किसानोंका पक्ष सबल हो

उठना स्वाभाविक था । उधर जागीर और मिलके मालिक तो थे नहीं और प्रबन्धकोने समय नही पहचाना । अपने अदूरदर्शी व्यवहारोंसे पास-पड़ोस के बर्मी और भारतीय किसानोंको उत्तरोत्तर अधिक क्षुब्ध रखनेका ही रवैया उन्होने अपनाये रखा । परिणामस्वरूप बर्मा सरकारने जियावडी जागीरके राष्ट्रीयकरणका निश्चय कर लिया । इसकी रस्में सन् १९५४ की २ फरवरीको पूरी कर दी गयी ।

मध्यबर्माके टॉगू जिलेके अन्तर्गत् स्थित इस जागीरका क्षेत्रफल १५ हजार एकड़ है और आबादी लगभग २० हजार, जिसमें ९८ प्रतिशत भारतीय किसान हैं । जागीरके राष्ट्रीयकरणके बाद किसान सरकारी प्रजा हो गये है और शान्ति-व्यवस्थाके लिए एक थाना कायम कर दिया गया है । शिक्षा-प्रचारके लिए बस्तीमे २ बड़े और १४ छोटे विद्यालय है । पुराना 'श्री ब्राह्मण सभा स्कूल' जिसे गान्धीजीके निधनके बाद श्री गान्धी हिन्दी महाविद्यालयका नाम दिया गया और दूसरा जियावडी हाई स्कूल जिसकी स्थापना सन् १९४७ मे हुई और जो मन्त्री श्री हबीब मुहम्मदके प्रयत्न और प्रधानाध्यापक श्रीराम वर्माके परिश्रमसे प्राइमरी विद्यालयसे हाई स्कूलके स्तरतक पहुँचा है । बस्तीके भारतीय परिवार बदली परिस्थितिमें भी बर्मामें ही बसे रहनेके इच्छुक हैं । इसके सिवा उनके सामने कोई दूसरा चारा भी नहीं है । कई पीढ़ियोंसे जीवन-यापनके लिए बर्मामे रहनेके बाद अपने देशमें जीविकाका उनका कोई आधार नहीं रह गया है । अधिकांशने बर्मी नागरिकताके लिए आवेदन भी किया है । कुछको नागरिकता-अधिकार प्राप्त भी हो गया है लेकिन नागरिकता-अधिकारके प्रदान किये जानेमें बर्मी सरकार द्वारा विलम्ब किये जानेसे अनेक लोग अनिश्चयकी हालतमें है । उनकी कृषिभूमिकी बन्दोबस्ती प्रतिवर्ष होती है, क्योकि वे अपनी जोती भूमिके

मालिक नहीं माने गये हैं। लगान भी उन्हे अन्यत्रके किसानों-की तुलनामे चौगुनी देनी पड़ती है। वैधानिक स्थिति स्पष्ट होने-पर ही कुछ सुधारकी आशा की जा सकती है और यह भारत-बर्मा सरकारके मैत्रीपूर्ण उद्योगपर ही अवलम्बित है।

: ९ :

चीनी उद्योगके जनक सी० पी० सिनहा

जियावडी जागीरके मालिक राय बहादुर श्री हरिहरप्रसादके सुपुत्र श्री चन्द्रदेवप्रकाश सिनहाको तरह-तरहके उद्योगोंको समझनेकी जिज्ञासा बाल्यकालसे ही बतायी जाती है। सन् १९३२ में एम० ए० की परीक्षा पास करनेके बाद आपने भारतके अनेक प्रमुख नगरोंका भ्रमण किया और वहाँके उद्योगोंको समझा। उनकी इच्छा जियावडीमें भी कोई कारखाना चालू करनेकी हुई। जियावडी तथा इसके पास-पड़ोस अथवा पचास-सौ मील उत्तर-दक्षिणके क्षेत्रोंसे गन्ना सुविधासे मिल सकता था और सम्भवतः उनकी अभिरुचि भी बनिस्बत अन्य उद्योगोंके चीनीके उद्योगमें ही अधिक थी, इसलिए उन्होंने सन् १९३४ में वहाँ एक चीनी मिल बैठायी। मिल तो एक वर्षके बाद ही चालू हो गयी, परन्तु उसके अधिकारियोंके रहनेके बँगलों आदिका निर्माण वर्षों पीछेतक होता रहा। सन् १९३८ में जब लेखक जियावडी आया तो उस समय प्राण्टके तत्कालीन मैनेजर तथा मिलके एक डाइरेक्टर श्री छगनजीके बँगले और

श्री चन्द्रदेवप्रकाश सिनहा

उसके हातेका निर्माण और सजावट हो रही थी। बँगला था तो छोटा ही, परन्तु रईसीके सभी सामानसे युक्त। जागीरके प्रबन्धक तो छगनजी रहे, परन्तु मालिक रायबहादुर श्री हरिहरप्रसाद सिंहजी निजी तौरपर भी व्यवस्था देखते थे। जब मैं जागीरका कार्यालय देखने गया तो ऐसा लगा मानो भारतके किसी तहसीलकी कचहरी घूमने गया होऊँ। बस्ता काँखमें दाबे शंकरजीकी बरात "कोउ मुखहीन बिपुल मुख काऊ" वहाँ जुटी प्रतीत हुई। हाँ, श्री छगनजीका कार्यालय उनके बँगलेकी तरह ही आधुनिक ढंगका मिला। चीनी मिलके मैनेजिङ्ग डाइरेक्टर श्री सी० पी० सिनहा थे और मिलके कार्यालयका ढंग काफी प्रभावशाली दिखाई दिया, यद्यपि श्री सिनहा वहाँ बहुत कम रहा करते थे।

मिलका निर्माण करनेमें लगभग २४ लाख रुपये लगे थे, ऐसा बताया जाता है। इसके कल-पुर्जे ग्लास्गोसे मँगाये गये थे। मशीनोंको भेजनेवाली कम्पनीने एक मिल बैठानेवाला 'एरेक्टर' भेजा था, जो स्काच थे। इनका नाम श्री मैकेटरी था। मिल बैठानेके बाद ये ही उसके चीफ इंजिनियर भी नियुक्त कर लिये गये थे। औसतन एक हजार टन गन्ना इस मिलसे रोजाना पेरा जाता था। इस एक हजार टनसे एक हजार बोरा चीनी भी प्रतिदिन निकलती थी। एक बोरेका वजन ६२॥ बीसा अर्थात् भारतके २० गण्डेके सेरसे १०५ सेर (ढाई मनसे कुछ अधिक) होता था। उस समय गन्नेकी कीमत ८ रुपये प्रति टन थी।

बर्मामें ऐसी भूमि बहुत कम है जहाँ कई तरहके खाद्यान्न पैदा किये जाते हों। जियावडी क्षेत्र और उससे लगभग १०० मील उत्तर पिन्मनाके आसपासकी जमीन ऐसी ही है। परिणाम यह हुआ कि श्री चन्द्रदेवप्रकाश सिनहाके सदुद्योगसे बर्मामें वह चीनी मिल चालू हुई, जो पूर्वकी सबसे बड़ी मिलोंमें एक रही और

१०० मील उत्तर तथा उतने ही दक्षिणतकके किसानोको वह साधन सुलभ हुआ, जिससे वे अपनी आर्थिक स्थितिमे आशातीत सुधार कर सके। जियावडीकी चीनी मिल खुलनेके पहले बर्मामें टिम्बर, चाँदी और टिनखदान तथा पेट्रोलियम उद्योगके अलावा छोटे-मोटे उद्योग-धंधे ही थे। डेल्टाके केम्योलीन स्थानमें और कछिन राज्यके नाम्टीमें दो छोटे-छोटे चीनीके कारखाने थे।

सन् १९३५ से लेकर सन् १९४१ के दिसम्बर मासमे विगत विश्वयुद्ध प्रारम्भ होनेतक मिलको श्री सिनहाने चलाया। युद्ध प्रारम्भ होनेपर सबसे पहले श्री सिनहा, जो वस्तुतः बर्मामे रहते भी बहुत कम थे, और उनके बाद रायबहादुर हरिहरप्रसाद सिंह तथा श्री छगनजी तथा अन्यान्य कतिपय जिम्मेवार अधिकारी भारत चले गये। मिलकी व्यवस्थाकी देख-रेखके लिए श्री रामचन्द्रप्रसाद तथा पं० चतुर्भुज तिवारी और ग्राण्टके प्रबन्धके लिए ठाकुर नागेश्वरसिंह और चौधरी तिलकधारी रायको रायबहादुर साहब आदेश देते गये।

जियावडीके किसान सर्वदा प्रत्येक अर्थमे मालिकके अवलम्बपर रहते आये थे, इसलिए युद्ध प्रारम्भ होनेपर उनके जानेका समाचार पाकर वे घबराये और उनका एक शिष्ट मण्डल रायबहादुरजीसे मिलने गया तथा उसने युद्धकालिक सम्भावित मुसीबतोको उनके समक्ष रखा। किसान प्रतिनिधियोंने जब यह कहा कि ब्रिटिश सरकार कहीं किसानोंको जबरन फौजमें भर्ती न करने लगे तो रायबहादुर साहबने उन्हे हर तरहसे आश्वस्त किया कि ऐसी नौबत आनेकी आशंका नहीं है।

जापानी फौजने प्रारम्भमें शूरताका इतना जाज्वल्यमान प्रमाण दिया कि ८ दिसम्बर सन् १९४१ को तो पर्ल हार्बरपर बमवर्षा करके युद्धका मारू बाजा बजाया, २३ और फिर २५ दिस-

म्बरको रंगूनपर बम बरसाया और उसके बाद क्रमशः सिंगापुर, श्याम और सीमास्थलीय नगर मोल्मीन आदिसे होते हुए मार्च महीनेतक रंगूनपर कब्जा कर लिया। रंगून खाली कर देनेका आदेश सरकारने २६ फरवरीको ही जारी कर दिया था और मिंगलाडानके हवाई अड्डेसे भारतके लिए आवागमन उससे भी पहलेसे बन्द हो गया था।

जियावडी मिल और ग्राण्टके प्रबन्धके लिए श्री सी० पी० सिनहाको चिन्ता होनी स्वाभाविक थी इसलिए उन्होने श्रीपरमानन्द श्रीवास्तव और श्री बालेश्वरप्रसादको भारतसे भेजा। ये दोनो साहसी पुरुष रंगूनकी ओरसे तो आ नहीं सकते थे इसलिए उत्तरी शानराज्यके लाश्यो हवाई अड्डेपर २६ फरवरीको विमानसे उतरे और २८ फरवरीको जियावडी पहुँचे।

युद्धकालमें मिलका संचालन जापानी संरक्षणमें होता रहा। इसके अन्तिम दिनोमे साधारण बम-वर्षा मिलपर भी हुई, जिससे काम बन्द करना पड़ा। मित्र-राष्ट्रीय फौजोंके आनेके बाद ही मिलकी मरम्मत कर उसे फिर चलाना शुरू कर दिया गया।

युद्धोपरान्त सर्वप्रथम प्रबन्धक बनाकर श्री मेकेंट्रीको जिनका उल्लेख ऊपर आ चुका है और जो पहले चीफ इंजीनियर रह चुके थे, भेजा गया। उनका आना असामयिक सिद्ध हुआ, क्योंकि हवाका रुख बहुत बदल चुका था और वे नितान्त असफल प्रबन्धक सिद्ध हुए। मेकेंट्री स्काच थे और युद्धमें विजयी गोरी कौमके घर पैदा होनेके नाते उनमें थोड़ी असावधानी होना स्वाभाविक थी। गोरोको विजय तो भूमि अथवा मिलोंकी मशीनोपर मिली थी, बर्माके निवासियोकी ऑखोमें तो वे खटकते ही थे। कुछ समयतक आग सुलगती रही और अन्ततः मिलके पॉच सौ मजदूरोने हड़ताल कर दी, जो ५३ दिनोंतक चालू रही। इन्हीं हड़तालियोंने मिलमें मजदूर-संघकी स्थापना की। कुछ

समयतक बाह्य शान्ति दीख पड़ी, किन्तु यह तूफानके पहलेकी शान्ति थी। इसी बीच बर्मी शासनके विरुद्ध कई क्षेत्रोमें विद्रोह आरम्भ हो गया था। सन् १९४८ मे बर्माके 'सफेद झण्डा' और 'लाल झण्डा' कम्युनिस्ट दलने और सन् १९४९ मे करेनोने भी विद्रोह कर दिया था। जियावडी क्षेत्र कम्युनिस्ट-विद्रोहके क्षेत्रमे पड़ता था। एक रातको बागियोने मिलपर हमला किया और रक्षकोसे बन्दूकें छीन लीं। बंगलेमे ऊपरसे नीचेतक मेकेट्रीकी खोज उन्होंने की। मेकेट्री बन्दूककी आवाज सुनते ही अपना निवास-स्थान छोड़कर अन्यत्र कहीं छिप गये थे। दूसरे दिन सबेरे ही वह पहली ट्रेनसे रंगून चले गये। उनके प्रस्थानके बादके प्रबन्धकोंने मिलकी रक्षा की और अधिक तैयारियाँ कीं। पहरुओं और आयुधोकी संख्या बढ़ा दी गयी। किन्तु इससे कबतक काम चल सकता था? बर्मामे कई और क्षेत्रोमें भी बगावत फैल जानेसे बर्माकी हालत बदतर हो गयी। अधिक विवरणमें जाना आवश्यक नहीं लगता है, यहाँ केवल इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि कुछ ऐसा कार्य-कारण उपस्थित हो गया, जिससे वहाँके आदिवासी पड़ोसियों और मिलके प्रबन्धकोंके बीच अत्यधिक मतभेद हो गया। उसके बाद ही मिलके कामोंमें दुर्व्यवस्थाकी आम चर्चा चलने लगी। स्थानीय सभी सार्वजनिक संस्थाओंके कार्यकर्त्ता मिनिस्ट्रीतक दौड़ने लगे। हड़तालके समय जिस मजदूर-संघकी स्थापना हो गयी थी उसके कार्यकर्त्ताओने मजदूरोंकी ओरसे और अन्य वर्गके प्रतिनिधियोने आम जनताकी तरफसे क्षेत्रीय संसदीय बर्मी सदस्यको इस बातके लिए राजी किया कि मिलके राष्ट्रीयकरणका प्रस्ताव वे संसदकी बैठकमे रखें। उन्होने वही किया। राष्ट्रीयकरणका बिल पास कर दिया गया और सन् १९५४ की १ नवम्बरको सरकारी कर्मचारियोने मिलका कार्यभार

स्वयं सँभाल लिया।

अध्यायके प्रारम्भमें ही जैसा लिखा गया है, श्री सी० पी० सिनहाको उद्योगोको बढ़ानेकी रुचि रही है और उन्होने युद्ध प्रारम्भ होनेसे पहले ही एक और मिलका सामान यूरोपमें खरीद लिया था, जो वहाँसे चल चुका था। किन्तु युद्धकालिक बाधाओं के कारण वह बर्मा नहीं पहुँच पाया। युद्ध समाप्त होनेके बाद उस सामानको उन्होने ढूँढ़कर मँगाया और राष्ट्रीयकरणसे दो वर्ष पहले दूसरी मिल भी खड़ी हो गयी थी। दोनों मिलोके मुआवजेका ७१ लाख रुपयेका बिल आपने बर्मा सरकारके सामने रखा है और उसपर विचार-विमर्श चालू है। अब तो बर्मामे दो और मिलें बन गयी हैं, एक पिन्मना और दूसरी नामटी (कछिन राज्य) में। किन्तु बर्मी चीनी-उद्योगका जनक तो श्री सी० पी० सिनहाको ही कहना यथार्थ है। एक आदर्श उद्योगपतिके अतिरिक्त अन्य दृष्टियोसे भी श्री सिनहा सराहनीय व्यक्ति है। आप निराभिमानी और रायबहादुर हरिहरप्रसाद सिंह जैसे पावन चरित्रवाले पिताके सपूत है। बर्मासे उनके अस्तित्वका एकदम उठ जाना प्रवासी भारतीयोके एक सबलतम स्तम्भके ढह जानेके समान है, परन्तु ऐसी स्थितिमे जब सरकारने देशको समाजवादी ढाँचेमें ढालनेका निश्चय कर लिया है, एक-न-एक दिन तो उसे यह कदम उठाना ही होता। मिलके राष्ट्रीय-करणमें सरकारकी ओरसे कुछ अनियमितता हुई थी। बिना किसी विधिवत् पूर्वसूचनाके कब्जेकी काररवाई पूरी की गयी। मिलोंके स्वामी श्री सिनहाने राष्ट्रीयकृत अन्य कारखानोंकी शर्तोंको दृष्टिगत करते हुए ८० लाख रुपयेका दावा तो पहले ही कम कर दिया था और अब दोनो मिलोंके लिए ७१ लाख रुपयेके मुआवजेकी पूर्तिकी ही बात है।

: १० :

त्यागमूर्ति दादा चान्जी

जियावडीके युद्धपूर्वके कार्यकलापोंकी चर्चा समाप्त करनेके पहले एक ऐसी विभूतिके कृतित्वका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है, जियावडीके भारतीय समाज पर जिसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। निष्काम कर्मकी सजीव मूर्ति श्री वी० के० दादा चान्जीके नामसे तो पहलेसे परिचित था, परन्तु उन्हें निकटसे परखनेका अवसर तब पाया जब जियावडी किसानसभाके अन्तर्गत संचालित नवा-नगर स्थित विद्यालयमें सन् १९३९के अन्तसे काम करने लगा। दादाजी तब सभाके एक शुभचिन्तकके रूपमें जियावडी आया करते थे। आप अपने ही खर्चसे आते और खाने-पीनेकी निजी व्यवस्था रखते थे। किसानोंपर अपने व्ययका तनिक भी बोझ आप नहीं पड़ने देना चाहते थे। वे इस बारेमें जो तत्परता रखते थे उसे प्रमाणित करनेकी अनेकमेंसे एक घटनाका उल्लेख आगे किया जा रहा है।

किसानसभाके तत्कालीन अध्यक्ष ब्रह्मचारी बलभद्राचार्यका एक बारका आग्रह, एक प्याला दूध पीनेके लिए जब हठका रूप लेने लगा तो दादाजीने दूध तो पी लिया, परन्तु तुरन्त ही ५ रुपयेका नोट निकालकर रख दिया और कहा कि यह दूधवालेको दे दीजियेगा। इसपर सभी स्तब्ध रह गये। और रुपया ब्रह्मचारी जीको ले ही लेना पड़ा।

सन् १९४० में जब किसानसभाका अधिवेशन हुआ तो दादा चान्जीको अध्यक्ष निर्वाचित कर लिया गया। अध्यक्षताके

दायित्वको आपने अतुलनीय रीतिसे निभाया। सन् १९३८ में जियावडीके किसानोंने अपने क्षेत्रमें भी 'टेनेन्सी एक्ट' लागू होनेके लिए दरखास्तें दी थीं। इस कारण किसान और जागीर-दारके बीच मुकदमा चला था और किसान हार गये। इससे किसानसभाको इतना धक्का लगा कि वह मृतप्रायः हो गयी। कतिपय नैष्ठिक सेवकों, जैसे, श्री रामकृष्ण महतो, श्री चन्द्रिकाप्रसाद वर्मा और श्री रामविष्णुसिंह तथा इनके दो-चार साथियोंको छोड़ अन्य किसानोंने सभाके सन्निकट आनातक बन्द कर दिया। इसी समय सभाके महामन्त्री ब्रह्मचारी बलभद्राचार्य भी, जो पहले अध्यक्ष रह चुके थे, स्थायी तौरपर भारत चले गये। सभाके कार्यालयके लिए प्यूमें एक मकान किरायेपर ले रखा गया था और अन्यान्य व्यय भी थे। उन सबको दादा चान्जी स्वयं तबतक वहन करते आये जबतक कार्यालय चालू रहा। विगत विश्वयुद्धके कालमें रंगूनपर हुई जापानी बम-वर्षाके बाद सारे देशकी स्थितिका खाका बदला तो किसानसभाकी स्थिति भी बदल गयी और यदि यह कहा जाय कि वह सर्वदाके लिए विलीन हो गयी तो भी विशेषोक्ति न होगी। अर्थ-योगके पहलूके अतिरिक्त अन्यान्य रीतिसे भी दादाजीने किसानोंकी जो सेवाएँ कीं वह अपना सानी नहीं रखतीं।

दादाजी खद्दरकी सादी पोशाक पहनते है, सिरपर गांधी टोपी, बन्द गलेका कोट, चूड़ीदार पाजामा और साधारण जूतेके सिवाय और किसी पोशाकमें वे, कमसे कम मुझे कभी नहीं दीखे। सन् १९५४ में जब उन्होंने अखिल ब्रह्मदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके अधिवेशनके स्वागताध्यक्ष और फिर स्थायी अध्यक्ष-पदको सुशोभित करनेकी अनुमति दी तो मैंने समाचारपत्रोंमें प्रकाशनके लिए उनकी फोटो माँगी। उन्होंने अतीव दृढ़तामिश्रित विनयसे कहा कि "यह धृष्टता न कराइये। मैंने मजबूरन केवल

पासपोर्टके लिए फोटो खिचवायी है, अन्यथा यह मेरे उसूलोंके खिलाफ है।" यह तो है उनकी सादगी। दादाजी अभीतक अविवाहित ही हैं।

श्रद्धेय वी० के० दादा चान्जीके सम्पर्कमें जब लेखक आया तबसे अबतककी अवधि इतनी लम्बी है कि उस समयका पैदा हुआ शिशु भी अबतक बालिग हो जाना चाहिये अर्थात् १८ वर्षोंसे अधिक हो गये। इसलिए इस अरसेमें समय-समयपर बातचीत करते हुए उनके यशस्वी जीवनके बारेमें और जो कुछ जान सका हूँ, वह आगे दिया जा रहा है।

दादा चान्जीकी अवस्था इस समय ७५ वर्ष है। आपके पिता बड़ौदा रियासतके दीवान थे। बम्बई विश्वविद्यालयसे बी० ए०, एल-एल० बी० करके आप कुछ काल भारतमें ही रहे। सन् १९१० में आप बर्मा आये। यहाँ आनेपर मालूम हुआ कि सरकारी नियममें परिवर्तन हो गया था और उन्हें वकालत करनेका लाइसेंस नहीं मिल सकता था। फलस्वरूप एक वर्ष यहाँ रहकर आप फिर भारत चले गये। सन् १९२३ में जब रंगून हाईकोर्टकी स्थापना हुई तो सन् १९२४ में आप फिर रंगून आ गये। सार्वजनिक संस्थाओंमें काम करनेका संस्कार आपमें कालेज-जीवनमें ही पड़ा। बम्बई विश्वविद्यालयके छात्रोंका 'जीमखाना' था, जिसके मन्त्री आप अनवरत रूपसे वर्षोंतक रहे। जीमखानाकी क्रिकेट टीमके मन्त्रीकी हैसियतसे आप सम्पूर्ण भारतकी रियासतों, जैसे पटियाला, मैसूर, बड़ौदा, भरतपुर, अलवर और जम्मू-कश्मीर आदिमें क्रिकेट खेलने जाते थे। सभी विश्वविद्यालयोंकी टीमोंसे भी आपने मैच खेला था। आपका कहना है कि उस समय अलीगढ़ विश्वविद्यालयकी टीम सबसे अच्छी मानी जाती थी। दादाजी स्वयं भी क्रिकेटके अच्छे खेलाड़ी थे।

सन् १९२४ में बर्मा आनेके बाद सन् १९३१-३२ में आपने 'आल बर्मा इण्डियन असोसियेशनकी' स्थापना की और विश्व-युद्ध प्रारम्भ होनेतक आप निरन्तर उसके मन्त्री रहे।

सन् १९३४ में जब अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसकी शाखा बर्मामें खुली तो आप उसके उपाध्यक्ष निर्वाचित हुए। उसके तीन वर्षों बाद सन् १९३७ में आप अध्यक्ष चुने गये। उसी वर्ष अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसकी कार्यकारिणीकी बैठक बनारसमें होनेवाली थी और आप उसमे भाग लेनेके लिए इस अभिप्रायसे गये कि पं० जवाहरलाल नेहरूको बर्मा आनेके लिए आमन्त्रित करें। पण्डितजीने बर्मा आनेका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया और आपके बर्मा-भ्रमणके लिए जो व्यवस्था-समिति बनायी गयी थी उसके भी दादाजी ही महामन्त्री थे।

सन् १९३८ मे बर्मी-मुसलिम दंगा होनेके कारण कुछ ऐसा प्रतिकूल वातावरण पैदा हुआ कि आप कांग्रेसकी अध्यक्षतासे अलग हो गये। सन् १९३७ की अप्रैलमे जब बर्माको भारतसे अलग रखनेका निश्चय ब्रिटिश सरकारने कर लिया तो यहाँ रहनेवाले भारतीयोकी स्थितिपर विचार-विनिमयके लिए पॉच विशिष्ट व्यक्तियोका एक शिष्ट मण्डल भारत भेजा गया। दादाजी उस मण्डलके कुशल मन्त्री थे। इसके अध्यक्ष श्री तैयबजी और अन्य तीन सदस्य सरदार बहादुर डा० आर० एस० डुगल, श्री आर० जी० ऐयंगर और श्री एस० एन० हाजी (सिंधिया कम्पनीके मैनेजर) थे। तत्कालीन भारत सरकारके परराष्ट्र विभागीय मन्त्री श्री अणे और सचिव श्री गिरिजाशंकर वाजपेयीसे विचार-विमर्श करनेमें आप लोगोंने १ मास दिल्लीमें बिताया था। किसी तरहका परिणाम मालूम नहीं हुआ था कि उसके बाद ही युद्धने सम्पूर्ण दृश्य ही बदल दिया।

सन् १९४२ के फरवरी मासमें बर्मासे भारत जानेपर आपने

महात्मा गांधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरूसे भेंट की। बर्मासे जानेवाले विस्थापित भारतीयोंकी देख-रेखके लिए आपने अनेक सुझाव रखे। कई अन्य व्यक्तियोंके सहयोगसे आपने एक संस्थाका निर्माण किया। इसके बाद सन् १९४२ से १९४६ तक आप आसाममें विस्थापित भारतीयोंके हितोंकी रक्षाका भार आसाम सरकारकी ओरसे सँभालते रहे।

दादाजी अतीव निर्भीक लिक्खाड़ हैं। इस समय तो आप 'युद्ध पाप है' (दि वार इज सिन) नामक एक ग्रन्थ लिख चुके हैं। विश्वके वर्तमान वातावरणसे आप अत्यन्त निराश रहते हैं।

सन् १९४६ में बर्मा वापस आनेपर आपने पुरानी संस्था अखिल बर्मा इण्डियन असोसियेशनको पुनर्जीवन देना चाहा और कुछ समयतक साथियोंसे विचार-विमर्श भी किया, परन्तु अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेसकी स्थापनाके कारण उस दिशाका प्रयास रोक दिया गया। इस समय भी आप अनेक संस्थाओंके अधिकारी एवं सबल स्तम्भ हैं और हैं आप बर्माके प्रवासी भारतीयोंकी पिछली पीढ़ीके भीष्मपितामह।

: ११ :

चौतगा जागीर

भारतके बिहार प्रान्तमे बिहियॉ नामक एक स्थान है। यहाँ-के जमींदार जेम्स मिलेन नामक एक अँग्रेज थे। ब्रिटिश सरकार द्वारा बर्मापर चढ़ाई करनेके समय आपने सरकारको अच्छी सहायता पहुँचायी थी। सन् १८८५ मे कलकत्तामे होनेवाली प्रदर्शनीके अवसरपर जब निचले (लोअर) बर्माके कमिश्नरकी इनसे मुलाकात हुई तो कमिश्नरने उनसे पूछा कि "यदि आप बर्माम कुछ जंगली भूमि लेकर उसे खेती योग्य बनाना चाहे तो उसकी व्यवस्था की जा सकती है"। श्री मिलेनको यह प्रस्ताव जॅच गया और उन्होंने किसानोकी टोलियॉ भूमिका नमूना देखने तथा आबोहवा आदिका अध्ययन करनेके लिए बर्मा भेजी। इन टोलियोंकी वापसीके बाद सन् १८९१ मे भारत-मंत्री (सेक्रेटरी आव स्टेट) और श्री मिलेनके बीच एक पट्टेकी लिखा-पढ़ी हुई, जिसके अनुसार लगभग ३० हजार एकड़ जंगल श्री मिलेनको मिला। जंगल काटने और जोतने योग्य बनानेके लिए बिहारसे झुण्डके झुण्ड किसान लाये गये, जिनका सब प्रकारका खर्च श्री मिलेनने बर्दाश्त किया। उस समयकी स्थितिके बारेमें बताया जाता है कि "जंगल भयावह जानवरोंसे भरा पड़ा था। वहॉ मलेरियाका भी प्रकोप था और विषैले सर्प भी बहुत थे। किसान सिल्लियोंमें आग लगा देते और मचान बनाकर रहते थे, फिर भी कभी-कभी बाघोकी चपेटमें आ जाते"। चौतगा जागीरमें अभी भी अनेक गॉवोमें 'बघउत बाबा' की देउरें पूजी

जाती हैं। इसका कारण पूछनेपर बताया जाता है कि जागीर आबाद करनेके प्रारम्भिक दिनोंमें बाघोंके चंगुलमें पड़नेके कारण जिन आदमियोंकी जिस स्थानपर मृत्यु होती थी उन्हें वहीं जमीन खोदकर गाड़ दिया जाता था और उनकी 'देउर' बना दी जाती थी। उस स्थानको 'बघउत बाबाकी देउर' कहकर पूजना शुरू कर दिया जाता था और उस पूजनकी परम्परा अबतक चली आ रही है। संयोगवश सम्पूर्ण बर्मापर अंग्रेजोंका अधिकार होनेके आसपास ही सन् १८८८ मे मिस्रमें स्वेज नहर बनी और दक्षिणी एशिया तथा यूरोपीय देशोंके बीच परिवहन और आयात-निर्यात बढ़ गया। फलस्वरूप बर्माके चावलकी माँग भी बहुत बढ़ गयी और इसका प्रभाव ब्रह्मदेशके हर भागपर पड़ा। इस जागीरके किसानोंकी स्थितिमे सर्वतोमुखी वृद्धि हुई। जहाँ आर्थिक विकास हुआ वहाँ जनसंख्या भी कल्पनातीत पैमानेपर बढ़ी। सम्पूर्ण बर्माकी आबादी औसतन ६ व्यक्ति प्रति वर्गमील है, किन्तु चौतगाकी ३०० व्यक्ति प्रति वर्गमील हो गयी। द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होनेके समय यहाँकी जन-संख्या २२ हजार बतायी जाती थी। इनमे ९५ प्रतिशत भारतीय किसान थे।

सन् १८९१ मे सरकारसे जागीरकी लिखा-पढ़ी पूरी होनेके बाद जब श्री मिलेनने किसानोंको लाना शुरू किया तो विविध दिशाओंसे रोक-उलझाव पैदा होने लगे। लाये जानेवाले किसानों-की भावी स्थितिके बारेमे पूछताछ होने लगी। फलस्वरूप किसानों और श्री मिलेनके बीच एक समझौता हुआ, जिसके अनु-सार जंगल साफ हो जानेके बाद किसान भूमिके और जमींदार लगान पानेभरके अधिकारी करार दिये गये। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। बताया जाता है कि जंगल काटनेमें जो खर्च पड़ा था उसे किसानोंके सिर कर्जके रूपमें मढ़ा जाने लगा। उनमें असन्तोष

बढ़ा और जब यह असन्तोष आन्दोलनका रूप लेने लगा तो जंगल काटनेकी मजदूरीकी एवजमे तो ३ वर्षोंकी लगान छोड़ दी गयी। किसानो और जमींदारोके बीच २० वर्षोंके लिए एक समझौता किया गया, जिसके अनुसार ४ रुपये ८ आना प्रति बीघा लगान तय हुई। यह समझौता समाप्त होनेके बाद एक दूसरा समझौता २५ वर्षोंके लिए हुआ और इस बार सात रुपये प्रति बीघा लगान निश्चित की गयी। चौतगा जागीरकी लगानकी ये दो विशेषताएँ रहीं—(१) लगान किस्ममें न लेकर नकद ली जाती थी और (२) प्रति एकड़ न लेकर प्रति बीघा ली जाती थी।

भूमिपर किसानोका पूर्णाधिकार न होनेके कारण जमींदारके खिलाफ आन्दोलनकी लहर रह-रहकर सर्वदा ही उठती रहती थी। किन्तु, सन् १९२५ के लगभग इसका वेग अत्यधिक तेज हो गया। मुकदमा चला और सन् १९२८ मे जमींदारकी हार हो गयी, मतभेद और उग्र हो गया। इसके बाद कैप्टन रीवेंस प्रबन्ध-कार्य देखनेके लिए आये और आप विवेकके साथ स्थितिपर काबू पानेमें बहुत-कुछ सफल हुए।

सन् १९४१ के अन्ततक किसान किसी तरह रहते आये, परन्तु सन् १९४२ की २६ फरवरीको तत्कालीन बर्मा सरकारकी ओरसे (युद्धके कारण) रंगून खाली करनेकी घोषणाके पश्चात् अराजकता फैल गयी। और पास-पड़ोसके निवासियोने जब डाके डालना तथा बस्तियाँ जलाना शुरू कर दिया तो प्रारम्भमें तो किसान डटे रहे, परन्तु उपद्रवोमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते देखकर अधीर हो उठे। सन् १९४२ की ३ मार्चको वे वहाँसे उद्वासित हो कुछ पैदल भारतके लिए चल दिये और बहुसंख्यक जियावडी चले आये। दुर्दिनके डेढ़ मास इन्होने जियावडीमे काटे। किन्तु अनेक दृष्टियोसे वहाँ निभना-निभाना असम्भव देख कर चौतगा वापस आ गये। पहले राजमार्ग और रेलवे लाइनोंके

आस-पास ही बसे और धीरे-धीरे जागीरके भीतरी भागोमें भी उन्होने प्रवेश करना शुरू कर दिया। इनकी अनुपस्थितिसे लाभ उठाकर दूसरे जो लोग जागीरमे बस गये थे उनसे धीरे-धीरे जमीन वापस लेने लगे, यद्यपि यह क्रम उन्हें देरतक चालू रखना पड़ा। थोड़ी जमीन, जो भारतीय किसानोकी थी, अभी भी दूसरोंके कब्जेमें रह ही गयी है।

युद्धोपरान्त जागीरकी व्यवस्था चालू करनेके लिए फिर अंग्रेज प्रबन्धक भेजे गये, किन्तु वे टिक नहीं सके। जब बर्मी कम्युनिस्टो ने बगावत शुरू की तो एक रातको उनका बंगला घेर लिया और गोलियाँ चलाना शुरू कर दिया। उन्होंने प्रबन्धक-को भी ढूँढ़ा, परन्तु पा नहीं सके। वे छिप गये थे और दूसरे दिन वे रंगून चले गये। तबसे श्री मूलराज जोशी नामक एक पंजाबी प्रबन्धकका काम देखते आ रहे हैं। युद्धके बाद जमीन-का लगान ४ रुपये ३ आना (४ च्या २५ प्या) प्रति एकड़ किसान-जमींदारके बीच तय की गयी थी और वही चालू है। जमींदार सरकारको दो रुपया डेढ़ आना (२ च्या १० प्या) प्रति एकड़की दरसे देते हैं।

इस समय इस जागीरकी आबादी लगभग १५ हजार ही रह गयी है, क्योंकि सन् १९४२ मे उद्‌वासित हो जानेके समय जो जियावडीमें नहीं रुके थे उनमेसे कुछ तो दुर्भाग्यवश पैदल भारत जाते हुए राहमें ही मर गये और जो भारत पहुँचे, उनमेसे भी सभी लौटकर नहीं आये। कुछ ऐसे भी हैं जो तभीसे बर्माके किसी दूसरे स्थानमें जाकर बस गये। इसलिए यहाँकी आबादी पूर्ववत् नहीं रह गयी।

बर्मा सरकारके 'भूमि राष्ट्रीयकरण कानून'के अनुसार इस जागीरके राष्ट्रीयकरणकी भी घोषणा कर दी गयी।

लेखकको चौतगा जागीरकी जानकारी सर्वप्रथम सन् १९३९

के जुलाई महीनेमे हुई थी, अपने एक प्रिय शिष्य श्री रघुनाथ-प्रसाद द्वारा। चौतगामें मिडिल स्कूल न होनेके कारण ये जियावडी पढ़नेके लिए आये थे। इस समय तो ये चौतगाके एक प्रतिष्ठित किसान नेता हैं। अभी चौतगामें कुल १६ विद्यालय हैं, जहाँ सन् १९३९ में केवल चार थे। इनके संचालनमे श्री रघुनाथका सर्वाधिक प्रयास रहता है। चौतगाके अन्य उल्लेखनीय सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओमें सर्वश्री रामावतार यादव, शिवपूजनप्रसाद, रामपुनीतजी, ईश्वरदयालजी, रामनगीना सिह, उमाशंकर, नन्दलाल और रामलाल मेहता इत्यादि है। यहाँके किसानोकी राजनीतिक स्थिति भी जियावडीवालोकी भाँति ही अबतक अस्थिर है, जो महान् चिन्ताका विषय है।

खण्ड दो

: १ :

२३ दिसम्बर, सन् १९४१

द्वितीय विश्वयुद्धका प्रारम्भ तो जर्मनी ने सन् १९३९ के सितम्बर मासमें पोलैंडपर आक्रमण करके कर दिया था, परन्तु एशियाने उसका अनुभव ८ दिसम्बर १९४१ से तब करना शुरू किया, जब जापानने पर्ल-हार्बरपर प्रथम बम-वर्षा करके आंग्ल-अमेरिकी गुटके विरुद्ध रणभेरी बजायी। बर्मा-निवासियोंको युद्धकी विभीषिकाका परिचय इससे भी १५ दिनो बाद २३ दिसम्बर १९४१ को हुआ। इसी दिन जापानने 'प्रारम्भ शूरता'का परिचय दिया और रंगून शहरपर पहली बार भीषण बम-वर्षा करके इस विशाल नगरके अनेक भागोको ध्वस्त कर दिया। सैकड़ों निरीह नागरिक हताहत हुए। यों तो इस काण्डसे आतंकित हुए बिना कोई नहीं बचा, परन्तु तरीके और स्तर भिन्न थे। बम-वर्षाके समय जो रंगून शहरमें थे—उनमेंसे कुछ तो सोते-जागते बमवर्षाका ही स्वप्न देखा करते थे और जो दूर थे, समाचारोको सुन-सुनकर उनका हृदय भी दहल जाता था। मैं उन दिनो टॉगूमें सिविल सर्जन डाक्टर प्यारेलाल बहलकी देख-रेखमें स्वास्थ्य-लाभ कर रहा था। श्रीबहल अवकाश प्राप्त करनेसे पहले ८ मासकी छुटी लेकर उन दिनों टॉगूमें रहने लगे थे।

कुछ पारिवारिक कार्यवश डा० बहल बम-बर्षाके दिन रंगूनमें ही थे। युद्ध प्रारम्भ हो जानेके कारण डाक्टरोकी मॉग बढ़ गयी थी और उन्हे भी अराकान क्षेत्रके चौफ्यू स्थित अस्पतालके सिविल-सर्जन पदका कार्य-भार सॅभालनेका हुक्म आ गया था।

रंगूनसे वापस होकर डाक्टर बहल टाँगू गये और वहाँसे प्रस्थानकी तैयारी करने लगे। शहरमे उनके एक मित्र डाक्टर श्रीलालका परिवार रहता था और उसकी व्यवस्थाके निमित्त तीन-चार मित्रोको साथ लेकर वे घूमने निकले। मै भी साथ था। रंगूनकी बम-वर्षाका ऐसा कुप्रभाव उनपर पड़ा था कि ऊपर चीले उड़ती देखकर वे इधर-उधर छिपनेके लिए दौड़ पड़ते। सिरपर हैट रखे थे, जिसे रह-रहकर उतार लेते। जापानी विमानचालक अँग्रेजी टोपी (हैट) पहने आदमियोंको घूमते देखकर बम-वर्षा करने लगते थे। रंगून-क्षेत्रको निर्जन और अर्ध-वीरान बना देनेवाली दो बम-वर्षाओके बाद ही जनतापर ऐसी दहशत हो गयी थी।

: २ :

जापानी सैनिक

"सैनिक-कर्म एक ओर बर्बर माना गया है तो दूसरी ओर वीरगति देनेवाला भी।" कोई देश ऐसा नहीं मिलता जहाँके सैनिकोंके अनाचारके सम्बन्धमे शिकायतें सुननेमे न आती हो। टॉमी (अँग्रेज सैनिक) अनाचारके लिए कुख्यात है, लेकिन, जापानी फौजियोंकी बर्बरता उन्हें भी मात करनेवाली थी।

सन् १९४१ की ८ दिसम्बरको जापानने पर्ल-हार्बरपर हवाई आक्रमण किया। २३ दिसम्बर और फिर २५ दिसम्बरको रंगून-पर जापानियोने बम बरसाया। 'प्रिन्स आफ वेल्स' और 'रिपल्स', ब्रिटिश युद्धकोंको डुबोकर जापानी सैनिकोने सिगापुर-पर १५ फरवरीको कब्जा किया और श्याम (थाइलैण्ड) की सीमा पार कर फौरन ही बर्मामें प्रविष्ट हो गये। ब्रिटेनकी ओरसे जगह्-जगह्पर मोरचेबन्दी तो होती रही, परन्तु साथ ही उसकी फौजें ससम्मान पीछे भी हटती गयीं। पेगूपर, जो रंगूनसे रेलवेके रास्ते और राजमार्गसे ५० मील उत्तर है, जापानियोका कब्जा हो जानेके बाद, टॉगू जिलेसे ऊपर उत्तरी शान राज्य आदिकी रक्षाका भार अँग्रेजोने चीनी सैनिकोंको सौप दिया था। युद्ध-कालिक-परिवर्तन देखनेकी इच्छा थी—इसलिए भाँति-भाँतिके सुझावोंको टालता हुआ मै टॉगू शहर छोड़कर जियावडीमें आकर रहने लगा था। सन् १९४२ के १९ मार्चकी शामको वहाँ चीनियोंको चक्कर काटते देखा गया था और २० मार्चको प्रातःकाल जब हम लोग बिस्तरसे उठे तो अपनेको जापानी फौजी

शासनकी छायामें पाया। केवल एक रात्रिमें एक साम्राज्य उजड़ा और दूसरा बसा दिखाई दिया। परिवर्तनकी उस रातको आगन्तुक जापानियोंसे कुछ तकलीफें मिली थीं, किन्तु किसी प्रकारका खास सशस्त्र-संघर्ष नहीं हुआ था। बिना युद्ध किये ही चीनी पीछे हट गये थे।

जापानियोंकी सैनिक टुकड़ियाँ विविध रूपसे संघटित थीं, सामान सिपाहियोंकी पीठके अतिरिक्त खच्चरोंपर लदे हुए थे। घोड़े छोटे-बड़े कदके बहुसंख्यक थे। जापानियोंको राह चलते जो भी मिलता, उससे काम लेना शुरू कर देते थे। मिलनेवालोंके पाससे घड़ियाँ अथवा कलम तो वे इस तरह झपट लेते थे मानो उन्हींकी रही हों। पाँवके जूते और बदनपरके कपड़ेतक उतरवा लेते थे। यदि वे किसी वस्तु अथवा निशानीकी इज्जत करते थे तो वह थी केवल 'गांधी टोपी'। एक गांधी टोपीवालेके जरिये अनेक व्यक्ति परेशानियोंसे बच जाते थे। गांधी टोपी पहने हुए आदमीको देखते ही वे चिल्लाकर कहते "गांधीका ?" अर्थात् "गांधीके आदमी हो ?" और उसे अपनेपनसे भरी दृष्टिसे देखने लगते। उनके पास ऐसे नक्शे थे, जिनमें छोटीसे छोटी बस्ती भी अंकित थी। टँगे या पड़े चित्रोंको उतारकर वे गौरसे देखने लगते। यदि कहीं अंगजो अथवा अंग्रेजी पोशाक पहने हुए लोगोंके वे चित्र देख पाते तो वहाँ खुफिया होनेका तुरन्त शक कर बैठते। उस स्थानके आस-पासके लोगोंको पकड़कर अपने शिविरमें ले जाते। पूछताछ करनेके साथ-साथ यातनाएँ भी देते। वे 'सर्वभक्षी' थे। चरते बैलों और गायोंको खड़े-खड़े काट डालते और कच्चा-पक्का मांस खाने लगते।

जापानी फौजी घरोंमें बलात् घुस जाते थे। उपभोग करने योग्य वस्तुओंको तो वे रख लेते थे, परन्तु जिनका उपयोग करना नहीं जानते थे उन्हें तोड़-फोड़कर बर्बाद कर देते। जियावडी

बस्ती और चीनी मिलके मालिक भारत जानेके समय बहुत-कुछ सामान तो साथ लेते गये थे, फिर भी उनका बॅंगला जैसे और जितने सामानसे भरा हुआ था उसका मूल्य लाखो रुपयोमें आँका जा सकता था। वहाँकी सब चीजे जापानी फौजियोने नष्ट-भ्रष्ट कर डालीं।

किसीपर विशेष सन्देह हो जानेपर वे उसे जानसे मार डालते। सन् १९४२ की २० मार्चको जापानी जियावडीमे आये और उसके चन्द दिनों बाद भास्कर पाटन नामक एक गॉवके १४ व्यक्तियोंको पकड़कर उन्होंने जिन्दा ही एक कुएँमे डाल दिया। यह घटना "कलकत्ताकी कालकोठरी"से किसी प्रकार भी कम दर्दनाक नहीं थी। इन आदमियोंको शामको जापानियोने जिन्दा कुएँमें डाला और सबेरे सबके सब मरे हुए मिले।

बर्मामे बसे बहुतेरे भारतीय तो उस समय ही घबराहटमें बर्मा छोड़ भारत भागने लगे थे जब रंगूनमें पहला बम गिरा था और किस प्रकार बदहवासीकी इस भगदड़मे मार्गकी कठिनाइयोके कारण कितनोको अपने प्राणोसे हाथ धोना पड़ा और जो स्वदेश पहुॅचे उन्हे क्या मुसीबतें झेलनी पड़ीं उसकी अलग करुण-कथा है। फिर भी लाखो भारतीय बर्मामें रह ही गये थे और जापानी आधिपत्यकालमे उन्हें जो यातनाएँ सहनी पड़ीं, उसकी चर्चा अलग एक अध्यायमें की गयी है। जापानी सैन्यके प्रवेश और अधि-कारके बाद भी बर्मा जन-क्षेत्रकी स्थिति कुछ दूसरी ही थी। अनेक प्रमुख बर्मी और पुराने नेता अधिकार करनेवाली आक्रा-मक सेनासे सहयोग करते देखे गये। जापानी अधिकृत क्षेत्रोमे शासन-व्यवस्थाका कार्य बर्मियो द्वारा चलानेका कार्य सुव्यवस्थित योजनाका अंग जैसा मालूम पड़ा।

: ३ :

बर्मी स्वातन्त्र्य-संघर्ष

बर्मी अन्तिम राजा तीबोको अंग्रेजोने सन् १८८५ में मांडलेके किलेमे बन्दी बनाकर सम्पूर्ण बर्मापर कब्जा कर लिया। राजा तीबो भारत लाकर नीलगिरिमें रखे गये थे, जहाँ सन् १९१६ में उनका देहान्त हुआ। इसके बाद लगभग १२ वर्षोंकी अवधिमें कोई राजनीतिक अथवा सामाजिक हलचल या किसी संस्थाके निर्माणका उल्लेख नहीं पाया जाता। सन् १८९७ में "शासनादारा सोसाइटी" का संघटन मोलमीनके ऊ श्वे थ्विन नामक एक प्रतिभाशाली बर्मीने किया। इस सोसाइटीका उद्देश्य बर्मी जनतामें शैक्षिक और सामाजिक जागरण लाना था। उसके बाद सन् १९०४ में—कालेजके छात्रो ने "रंगून कालेज बुद्धिस्ट असोसियेशन" की स्थापना की और उसके थोड़े ही पीछे "दी यंग मेन्स बुद्धिस्ट असोसियेशन" नामक उस महत्त्वपूर्ण संस्थाका जन्म हुआ जिसके नेता थे, ऊ मॉग जी, जो पीछे चलकर सर मॉग जी हुए और ब्रिटेनके लिए राजदूत भी होकर गये तथा सर वापे जो विगत विश्व-युद्धसे पहले गृह-मंत्री रह चुके थे और जो पिछले दिनों सरकारका तख्त उलटने-के सम्बन्धमें नजर-बन्द रखे गये थे, तथा हालहीमें रिहा किये गये है। यह संस्था कुछ समय इसी नामसे काम करती रही और पीछे चलकर सहयोगी संस्थाओंका भी विलयन करके एक नयी संस्थाका जन्म हुआ, जिसका नाम जनरल कौंसिल आफ बुद्धिस्ट असोसियेशन (जी० सी० बी० ए०) पड़ा।

सन् १९१७ के अगस्त महीनेमें जब ब्रिटेनके हाउस आव कामन्समें श्री मांटेगूने भारतके लिए 'उत्तरदायी सरकारके निर्माण-का प्रस्ताव रखा तो बर्माकी राजनीतिक स्थितिके बारेमे बर्मी नेताओंको भी चिन्ता होने लगी। उस समय बर्मा अखण्ड-भारत-का एक सूबा था। इसके दो-तीन वर्षों बाद सन् १९१९-२० तक सम्पूर्ण बर्मामें राजनीतिक चेतनाकी लहर-सी दौड़ पड़ी। सन् १९२० में रंगून कालेजके छात्रोंने हड़ताल की, जिसका प्रभाव सारे देशपर पड़ा। इसी बीच भिक्षु उत्तमा जापान और अन्य दीक्षण-पूर्वी एशियाई देशोंका भ्रमण कर लौटनेके बाद ही बर्माके राजनीतिक और सांस्कृतिक नेतृत्वकी बागडोर हाथमें ले ली। भिक्षु उत्तमाके बाद ही भिक्षु ऊ विजारा आन्दोलनमें कूद पड़े और उन्होंने १६६ दिनोंके उपवासके बाद इहलीला ही समाप्त कर दी। आप जाते-जाते स्वतन्त्रताके लिए संग्राम चालू रखनेका अमर सन्देश बर्मियोंको देते गये।

उधर सन् १९२१ में जनरल कौंसिल आफ बुद्धिस्ट असो-सियेशनके कार्यकर्त्ताओंमें मतभेद हो गया और उनमेंसे २१ नेताओंके एक दलने अलग होकर दूसरी 'जी० सी० बी० ए०' का निर्माण किया। इसके नेता ऊ छिन ल्हाइङ्ग बार-एट-ला हुए। आपका प्रभाव इतना बढ़ गया था कि आप बर्माके बिना ताजके बादशाह ही कहे जाते थे।

२६ मई, सन् १९३० को जब बर्मी-भारतीय दंगा शुरू हुआ तो बर्मियोंकी जान-मालकी रक्षाके लिए युवकोंने एक दल बनाया। इस दलका नेता तखिन बा तांग नामक एक तरुण था। बा तांगने सुझाव दिया कि 'मांग', 'को' और 'ऊ' आदि बर्मी उपाधियाँ गुलामीकी सूचक हैं और इसलिए इनकी जगह 'तखिन' शब्दका प्रयोग होना चाहिये। 'तखिन'का अर्थ है 'मालिक'। इस भाँति इस तखिन दलने भी जनजागरणका काम शुरू कर दिया। इनमें-

से तखिन टिन नामक एक युवकने बर्मी 'राष्ट्रगान' की भी रचना की जिस गानका अर्थ है "बर्मा हमारा देश है—बर्मी हमारी भाषा है—अपने देशको प्यार करो—अपनी भाषाकी उन्नति करो—हमारे भाषणोंको आदर दो।"

इन संस्थाओंके कार्यकलापोंके अतिरिक्त 'सया सां' की क्रान्ति'का विशेष महत्त्व है। यह क्रान्ति सन् १९३० के २२ दिसम्बरको प्रारम्भ हुई थी। सर जे० ए० मॉग जी नामक बर्मी गवर्नर थारावडी जिलेके दौरेपर गये थे। उस वर्ष अकाल होनेके कारण किसानोंने लगान कम करनेकी प्रार्थना की, जिसकी ओर गवर्नरने कोई ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप सरकारके विरोधमें किसानोंने बगावत शुरू कर दी। सया सां एक चिकित्सक थे और तन्त्र-मन्त्रमे विश्वास करते थे। वे भाग्य-फल देखते और ज्योतिषकी गणना भी करते थे। यह दंगा थारावडी, त्याटमऊ, हेन्जडा, इन्सिन और प्यापोन जिलोंमे फैल गया था। अन्ततः सरकारने इसपर काबू पा लिया। अधिकांश क्रान्तिकारी गोलीका निशाना बना दिये गये और सया सां कुछ साथियोंके साथ गिरफ्तार कर लिये गये। उनपर मुकद्मा चला और फॉसीकी सजा सुनायी गयी।

सन् १९३६ की रंगून विश्वविद्यालयकी छात्र-हड़तालको तो अभी हालका इतिहास ही माना जाना चाहिये। इसके नेता अभी हालतक बर्माका प्रधानमंत्रित्व सँभालनेवाले ऊ नू और स्वर्गीय जेनरल आंग सां थे। ऊ नू तत्कालीन विश्वविद्यालय छात्र-संघके अध्यक्ष और ऊ आंग सां प्रधान मन्त्री थे। इस हड़तालने सम्पूर्ण देशमे हलचल मचा दी थी, पन्तु इससे भी ब्रिटिश सरकार विचलित प्रतीत नहीं हुई, सन् १९०४ से सन् १९४० तककी छोटी-बड़ी राजनीतिक हलचलोंका अंग्रेजोंपर ऐसा प्रभाव पड़ा नहीं जान पड़ता था कि बर्मी राजनीतिज्ञ यह विश्वास

कर सकते कि इसी रीतिसे वे अंग्रेजोको सत्ता छोड़नेके लिए मजबूर कर सकेंगे।

उन्हें यह निश्चय-सा हो गया था कि बिना सशस्त्र-संघर्षके अंग्रेज बर्मा नहीं छोड़ेंगे। साथ ही उनकी यह भी धारणा बन गयी थी कि केवल अपने देशवासियोंके बलपर ही यह काम नहीं किया जा सकता, किसी-न-किसी विदेशी सरकारकी सहायता लेनी ही होगी। इधर इनकी यह धारणा और उधर जापानका मित्र-राष्ट्रो (आंग्ल-अमेरिका और रूस) के साथ उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ मतभेद मेल खा गया। राष्ट्रीय स्वतन्त्रताकी आकांक्षा रखनेवाले बर्मियोंने इसके लिए जापानके साथ गठ-बन्धनका निश्चय कर लिया। जापानी सैनिक शक्तिका उपयोग बर्मी करना चाहते थे, परन्तु यह किस प्रकार हो यह बात भी कुछ कम विचारणीय नहीं थी। बर्मी तो सैनिक थे नही! उस वक्ततक बर्माकी कबायली जातियोंमेसे 'करेन', 'छिन' और "कछिन'सैनिक टुकड़ियाँ तो थीं, परन्तु बर्मी रेजीमेंट नामकी कोई सैन्य टुकड़ी नहीं थी, जिससे ये किसी प्रकारका सम्पर्क स्थापित कर अभीष्टकी सिद्धिके लिए कुछ प्रयत्न करते। 'छिन', करेन' और 'कछिन'पर बर्मी देशभक्तोको विश्वास नही था और ऐसा करना हितावह भी नहीं होता, क्योंकि इनपर शाही (अंग्रेजी) धर्म और विचार-धाराका प्रभाव अत्यधिक था। विश्वासघातके सभी तत्त्व मौजूद थे। परिणाम उलटा निकल सकता था। इस-लिए स्वर्गीय ऊ आंग सांके नेतृत्वमे ३१ बर्मी युवकोका एक दल 'युद्ध-कला'की शिक्षा लेनेके लिए सन् १९४० में जापान गया। महीनोतक सैनिक-शिक्षण लेनेके बाद ये युवक बर्मी-श्यामी सीमास्थलमें आकर रहने लगे और वहाँके ग्रामीणोंकी कुछ टोलियाँ एकत्र कर उन्हें फौजी ट्रेनिङ्ग देने लगे। श्यामपर कब्जा करनेके बाद जब जापानियोने बर्मामें प्रवेश किया तो इन्हीं

सैनिकोने उनका पथप्रदर्शन किया। जापानियोके पास सम्पूर्ण वर्माके छोटेसे छोटे स्थानो और मार्गोंको दर्शानेवाले जो नक्शे थे वे इन्हीसे प्राप्त हुए थे। जापानियोका पथप्रदर्शन करने-वाली ऊ आंग सांके नेतृत्वमे संघटित इस सैनिक टुकड़ीका नाम-करण बी० आई० ए० (बर्मा इण्डिपेण्डेस आर्मी—बर्मा-स्वातंत्र्य सेना) किया गया था।

: ४ :

बी० आई० ए० का नेतृत्व

'बी० आई० ए०' और जापानियोंमें यह करार हो चुका था कि जापानी ज्यों-ज्यों अंग्रेजी फौजको भगाते जायँगे त्यों त्यों अधिकृत क्षेत्रोंकी शासन-व्यवस्थाका भार 'बी० आई० ए०' को सौंपते जायँगे। बी० आई० ए० के अधिकांश सैनिक अपरिपक्व मस्तिष्कके अनुभवहीन युवक थे। बर्माके उनके सहयोगी भी वैसे ही थे। सुव्यवस्था स्थापित करनेमे वे अयोग्य और अदूरदर्शी सिद्ध हुए। यह कहना भी उचित होगा कि उन्होंने फौजी-शिक्षण भर लिया था और शासन-व्यवस्था करनेकी रूप-रेखातक उनके दिमागमे नही थी और न अल्पसंख्यकों अथवा विभिन्न अभिरुचि और विचारधाराके व्यक्तियोंके हितोंकी रक्षा एवं भावनाओंके सम्मानके प्रति जिम्मेदारी निभानेकी उनमे क्षमता थी।

'बी० आई० ए०' की शासन-व्यवस्थाकी प्रशंसा किसीके मुँह-से अबतक सुननेमे नही आयी। एक साधारण-सी गलतफहमीके कारण जियावडी जागीरके किसानोंको तो भारी क्षति सहनी पड़ी थी। इस जागीरमें 'सेमरतर' नामका एक ग्राम है। सन् १९४२ की अप्रैलको प्रातः १० बजे 'बी० आई० ए०'के कुछ जवान उस गाँवमे आये और श्री रामकिशोर सिह नामके एक किसानके घरमें जो इस समय वहाँ बर्मा सरकारकी ओरसे मुखिया (तज्जी) नियुक्त है, घुसकर तलाशी लेने लगे! उनका कहना था कि राम-किशोर सिहके घरमे अवैध हथियार थे। तलाशीमे कोई हथियार मिला नही। चीनीके दो बोरे मिले, जिन्हे ये बैलगाड़ीपर रखकर चल दिये और साथमे अकारण ही कुछ ग्रामीणोंको अपने साथ ले

गये। ग्रामीणोंको ले जाये जानेके कारण पास-पड़ोसके किसानों-का एक झुण्ड भी पीछे-पीछे चल पड़ा।

एक प्रकारसे तो सन् १९४१ की २३ दिसम्बरको रंगूनपर प्रथम बम-वर्षा होनेके बादसे ही सम्पूर्ण देशमें अराजकता हो गयी थी, क्योंकि अँग्रेज सारी व्यवस्थाको समेटते हुए जहाँ-तहाँ रुक-रुककर भागनेमें ही लगे थे, परन्तु सन् १९४२ के फरवरी मासतक सम्पूर्ण देश विप्लव-ग्रस्त हो गया था। डाकेजनी हद दर्जेकी बढ़ गयी थी। जापानियोंके आ जानेके बाद भी डाकुओंका भय लगा ही रहता था। आतंककी इस स्थितिमें निकटकी भारतीय बस्तीके अन्य लोगोंको जब इस वारदातका पता चला तो उन्होंने ऐसा समझा कि डाकुओंने ही दिनदहाड़े छापा मारा था और इसलिए वे भी दौड़ पड़े। 'सेमरतर'से डेढ़ मील उत्तर एक दूसरी बस्ती 'रामनगर' है। वहाँतक पहुँचते-पहुँचते सैकड़ोंकी संख्यामें आदमी इकट्ठे हो गये। दो-तीन माससे ऐसा हाल था कि जब किसी एक गाँवमें डाका पड़ता तो पास-पड़ोसके ग्रामोंके निवासी मददके लिए पहुँच जाते थे। जियावडी जागीरके कर्मचारी भी पहुँचते थे। इस तरह सैकड़ों आदमियोंके घेरेमें आ जानेके कारण बी० आई० ए० के सिपाहियोंने दो-तीन 'हवाई फायर' किये और फिर उत्तरकी तरफ चल पड़े। इस स्थानसे डेढ़ मील और आगे सितांग नदी है, जो जागीरकी उत्तरी सीमा बनाती है। जागीरसे बाहर हो जानेके बाद बी० आई० ए० के सैनिक रुक गये। इसी बीच जियावडी खबर पहुँचनेपर, यहाँ चीनी मिलकी रक्षाके लिए मौजूद जापानी सैनिकोंमेंसे ४-५ की एक टोली स्थितिका अध्ययन करनेके लिए निकल पड़ी थी, वह भी वहाँ पहुँच गयी। सितांग नदीके किनारे पहुँचकर बी० आई० ए० के सिपाहियोंने गोलियाँ चलाना शुरू कर दिया था और उनसे थोड़े फासलेपर अवस्थित

नवानगर नामक एक गाँवसे जापानियोंने उसका उत्तर देना प्रारम्भ कर दिया। दोनो ओरसे कुछ देरतक गोलियाँ चली और इतनेमें एक तो सूर्यास्त होने लगा और दूसरे जापानी सैनिकोंके पासकी कारतूसें भी खत्म हो गयीं इसलिए वे पीछे लौट आये। बी० आई० ए० के जवानोंने जापानियोका पीछा किया और 'कुरुमबस्ती' तथा 'नवानगर' नामक दो ग्रामोमे आग लगा दी। भागती भीड़के कुछ आदमी हताहत भी हुए।

जिन ग्रामोकी होली जली थी उनसे लगभग १० मील दूर 'फ्यू' नामका कस्बा है। बी० आई० ए० का प्रधान कार्यालय वहीं था। जिन सैनिकोने गाँवोको फूँका और गोलियाँ चलायी थी उन्होने रात ही रात एक ओर तो 'फ्यू' यह समाचार भेजा कि जियावडी जागीरमे बहुसंख्यक भगोड़े सैनिक छिपे हुए है जिनसे मुकाबला करना है इसलिए कुमुक भेजी जाय और इधर पड़ोसके बर्मी गावोमे भी घूम-घूमकर सहायता मांगी। दूसरे दिन सबेरे उन्होने और भारतीय गाँवोको जलाना शुरू किया। जब ये लोग चीनी मिलसे ३-४ फर्लांगकी दूरीपर रह गये तो वहाँके जापानी सिपाही उद्वेलित हो, भारतीय प्रबन्धकोसे परामर्श करके रक्षार्थ बाहर निकल आये और उन्होने आक्रामकोंसे मोर्चा लिया और उन्हें आगे बढ़नेसे रोक दिया। अब-तक जागीरके ३६ गाँव राख हो चुके थे। उत्तर-पूर्वके कोनेसे आग लगनी शुरू हुई थी इस-लिए इर्द-गिर्दके सब गाँव जल गये। दक्षिणका इलाका बाकी रह गया था और वह बचा रहा। जागीरकी कुल ४६ बस्तियोमेंसे ८ शेष रह गयी थीं। साधारण-सी गलतफहमीके कारण इतना बड़ा विध्वंस हुआ। लाखोंकी सम्पत्ति राख हो गयी और सैकड़ो परिवार बेघरबार होकर छाया और अन्न-वस्त्रके लिए तरसने लगे। ऐसा था 'बी० आई० ए०'का नेतृत्व। ऐसी ही कमोबेश हालत 'बी० आई० ए०' द्वारा नियंत्रित दूसरे क्षेत्रोंकी भी थी।

: ५ :

शान्ति-व्यवस्थापिका समिति

सन् १९४२ के मार्च महीनेमें जापानी फौजोंने रंगूनपर कब्जा कर लिया था और तखिन ठुन ओककी अध्यक्षतामें एक शान्ति-व्यवस्थापिका सीमतिका संघटन किया गया था। तखिन ठुन ओक उन ३१ तखिन बर्मियोंमें-से एक थे जो जेनरल आंग सांके साथ सैनिक-शिक्षणके लिए जापान गये थे। 'फ्यू' तहसीलके लिए जो व्यवस्थापिका समिति संघटित की गयी थी उसके अध्यक्ष ऊ टिन मांग जी नामके एक विद्वान् और वयोवृद्ध सज्जन थे। युद्धसे पूर्व आप टाँगू जिलेके न्यायालयमें सरकारी वकील (पब्लिक प्रासीक्यूटर) थे। बादमें आप युद्धकालिक बा मो सरकारके विधि-विभागीय सचिव थे। उनके यहाँ आना-जाना और विचार-विनिमय शुरू ही हुआ

ऊ टिन मांग जी

था कि इसी बीच एक नयी घटना घटी। 'फ्यू' से बी० आई० ए०के कुछ सैनिक आये और एक भारतीय किसानको

यह कहकर ले गये कि उसने किसीको मार डाला था। उस किसानको 'फ्यू' ले जानेके बाद उसे हिरासतमे रखा गया और शारीरिक दण्ड दिया गया। इसका पता चीनी मिलकी रक्षा करनेवाले जापानियोंको लगा। ये सर्वदा ही जागरूक रहते और छोटीसे छोटी घटनाकी जानकारी प्राप्त करनेकी कोशिश करते थे। उस भारतीय किसानके 'फ्यू'मे हिरासतमें रखे जानेके तीसरे दिन टाँगूसे, जहाँ जिलेका प्रधान कार्यालय था, कतिपय जापानी अधिकारी आये। मिलके रक्षक सैनिकोने उन्हे किसानोंकी दयनीय दशासे अवगत तो कराया ही, उस आदमीके 'फ्यू' हिरासतमें ले जाये जानेकी बात भी बतायी। जापानी अधिकारी यह सुनकर तिलमिला उठे और 'फ्यू' पहुँचकर बी० आई० ए० तथा पुलिस विभागके अधिकारियोकी उन्होने अच्छी तरह लानत-मलामत की। इस दुर्घटनाने 'फ्यू' स्थित बर्मी अधिकारियोको बेतरह मर्माहत बना दिया और उन्हे सन्देह हुआ कि जियावडीके भारतीय प्रबन्धकोने ही ऐसा कराया था। उन्होने ही शिकायते करके जापानियोको बर्मी अधिकारियोके विरुद्ध भड़काया था।

जियावडीसे फ्यू साढ़े चार मीलकी दूरीपर है। पैदल चलनेमें एक घण्टा और घोड़ेसे १२ से १५ मिनटका रास्ता है। परन्तु अब वह दर्जनो योजन दूर जैसा हो गया था। बर्मी अधिकारियोसे अच्छे सम्बन्ध स्थापित करनेके उपायोपर जियावडी जागीरके प्रबन्धकोके बीच विचार-विमर्श होने लगा।

भारत प्रस्थान करते समय रायबहादुर हरिहरप्रसादने एक विश्वासभाजन वयोवृद्ध कर्मचारी ठाकुर नागेश्वर सिहपर जागीरके प्रबन्धका भार छोड़ा था और भारतसे गये श्री परमानन्दभी उनसे परमार्श किया करते थे। इस अवसरपर श्री नागेश्वर सिहने उन्हें राय दी कि "बर्मा अधिकारियोसे वार्ताके लिए इन

पंक्तियोंके लेखको, जो उन दिनों जागीरका कर्मचारी था, भेजा जाय।"

श्री परमानन्दने मुझे 'फ्यू' जाने और बर्मी नेताओंको समझा-बुझाकर वार्ताके लिए ले आनेका आदेश दिया। उस विषम घड़ीमें यदि कुछ करते-कराते अनहोनीका शिकार हो जाना पड़ता तो कोई ग्लानिकी बात नहीं थी। जो दुर्दिन शरणार्थी किसान झेल रहे थे उनका वह हृदय-विदारक था। निदान, परमानन्द-जीका आदेश पाकर मैं 'फ्यू'के लिए चल पड़ा। घोड़ेपर जाना ठीक मालूम हुआ, क्योंकि पैदल विलम्ब लगता और चीनी मिलकी नाक एक ही 'आस्टिन' मोटर रह गयी थी जिसपर सवार होकर जानेसे ४ मीलकी सफरमें भी बहुधा दो मील तो वह अपनेको ढोती थी और दो मील अपनी कायाको ढकेलवाती। 'फ्यू' बाजारके मोड़पर जब पहुँचा तो 'तखिन ताँ' नामक एक बर्मी सार्वजनिक कार्यकर्त्ता बैठे हुए दिखाई पड़े। घोड़ेसे उतरकर मैंने पूछा "और नेता कहाँ है ?"

तखिन ताँ काफी उदास थे। भरे कण्ठसे बोले "बी० आई० ए० के कार्यालयमें है, लेकिन मैं आपको वहाँ जानेकी राय नहीं दूँगा। वे लोग अन्दर होंगे और सिपाही तो आपको पहचानते नहीं है। उनतक पहुँचते-पहुँचते कुछका कुछ हो सकता है। आपकी मिलके प्रबन्धकोंने सारा खाका ही बदल दिया।" फिर कहा, "यह सन्देश भेजकर कि आप आये है बुलवाना भी उचित नहीं है, क्योंकि स्थिति बहुत गम्भीर हो चुकी है। मैं साथ लेकर चलनेमें भी सकुच रहा हूँ। आप बैठिये, वे लोग 'चोयबोय' जानेवाले है, थोड़ी देरमें ही बाहर आयेंगे।" ऐसा ही हुआ। आध घण्टाके बाद बर्मी कार्यकर्त्ता बाहर आये। उनके नेता तखिन ताँसे किंचित् कर्कश स्वरमें पूछ बैठे—'यहाँ किसलिए आये है।' मैं थोड़ा सहम गया। विनम्रतासे

बोला "आप नेता लोग और मिलके प्रबन्धक कोई व्यवस्था सोचेंगे अथवा किसानोंको ऐसे ही मरने देंगे ?" प्रश्न मर्मस्पर्शी था, परन्तु उधर आघात कुछ ऐसा पहुँच चुका था कि इसका कोई असर नहीं हुआ। उन्होने कहा, "मिलके प्रबन्धकोसे हमे क्या करना है।" मैंने कहा, "आखिर, इतना कठिन काम होगा कैसे ? मेरी सलाह मानिये और मैनेजरसे बातचीत करिये।" यह सुनते ही वे चौंके और बोल पड़े, "मै उस महलमे बातचीत करने जाऊँ ?" इस तरह प्रश्नोत्तरमे थोड़ी देर लगी। इस बातपर उन्हे राजी किया जा सका कि सरकारी बंगले (डाक बंगले) मे बातचीत होगी, मिल मैनेजरको वहीं बुला लाया जायगा, परन्तु जब उनकी मोटर सरकारी बंगलेके सामने जियावडी पहुँची तो मैने राजमहलमे ही आनेका अनुरोध किया। घोड़ा फ्यूमें छोड़कर मै भी मोटरमें ही साथ बैठ गया था। मेरे कहनेपर वे लोग बातचीतके लिए राजमहलमें आ गये।

मै मन-वचन-कर्मसे भारतीय था और उन दिनो चीनी मिल और जागीरका एक कर्मचारी भी। परन्तु जो आत्मीयता तखिन तॉने मेरे प्रति प्रदर्शित की वह अपूर्व थी और केवल इसी नाते कि वे अर्सेसे मुझे अपना समझते आ रहे थे। बर्मी स्वतन्त्रताके लिए जो संघर्ष वे कर रहे थे उसमे एक-न-एक रूपसे मुझे अपना सहयोगी मानते थे।

श्री परमानन्दमें आत्मीयता-मिश्रित जो व्यवहार-कुशलता थी वह पहले तो विफल प्रतीत हुई, परन्तु अन्ततः दूसरे दिन फिर आनेका वायदा करके बर्मी नेता चले गये। दूसरे दिन फिर जब बर्मी नेता आये तो ऊ टिन मांगजी भी वार्तामें सम्मिलित हुए। बातचीतका सिलसिला कई दिनोतक चलता रहा। ऊ टिन मांगजी घबरा जाया करते थे। उनकी कुछ चल नहीं पाती थी। अनुभव-वृद्ध वे अकेले थे और शेष सभी अल्पवयस्क।

कोई हल नहीं निकल पाता था। एक दिन उनके घर आकर बातचीत कर रहा था। इसी बीच फिर एक गड़बड़ी पैदा हो गयी थी। अपने जले घरोंके खण्डहरसे बीन-छानकर कुछ सामान लाने किसान गये थे कि इतनेमें एक सशस्त्र बर्मी दल आकर उनपर गोलियाँ चलाने लगा। इसीका विवरण मैं उन्हें सुना रहा था कि इतनेमें वे बोल पड़े—"मिश्रजी मैं चाहता हूँ कि मदद की जाय, किन्तु आपके मित्र (बर्मी युवक) स्थितिकी गम्भीरता और अपनी जिम्मेवारियोंको नहीं महसूस कर रहे हैं।" दूसरे दिन फिर बर्मी नेता एक बैठकके लिए राजी हुए। यह बैठक अधिक सफल रही। हर प्रकारकी व्यवस्था और शान्ति कायम करनेके लिए एक 'शिविर' जियावडीमें स्थापित करनेका निश्चय हुआ। इस शिविरमें १० बर्मी और १० ही भारतीय कर्मचारी रखे गये। इसका मुख्य अधिकारी प्रारंभमें एक बर्मी और चन्द दिनों बाद ही उभय-पक्षका विश्वास-पात्र होनेके कारण यह जन बनाया गया। अग्नि-कांडके बाद भारतीय किसानोंके ८ हजार पशु भगा ले जाये गये थे, जिन्हें बर्मी बस्तियों से ढुंढ़वाकर निकलवाना था। गाँव-गाँवके मुखियोंकी सहायतासे संदिग्ध बर्मी-घरोंकी तलाशियाँ लेनी थीं और लूटे मालको बरामद करके उन्हें पहचानना और असली मालिकतक पहुँचवाना था। जागीरको फिरसे बसानेका काम तो अत्यन्त दुष्कर था। जंगलसे लकड़ी-बाँस मँगवानेके अतिरिक्त बस्तियोंमें जाकर रहना और किसानोंमें वहाँ बसनेके लिए नैतिक-साहस भरना था। इस समयतक ऐसी स्थिति आ गयी थी कि कुल एक वर्ग-मीलके क्षेत्रमें आबादी अत्यन्त घनी हो जानेके कारण हैजा उग्र रूपमें प्रकट हुआ। यदि उन किसानोंको हटाकर अन्यत्र बसाया न जाता तो कुछकी कुछ स्थिति हो जाती। यहाँ, फिर चरित्रका प्रश्न आ जाता है। को वा तेंड नामके एक बर्मी

युवकने, जो पहले प्रमुख और फिर मेरे सहायक थे, कर्तव्यके प्रति जिस निष्ठाका परिचय दिया वह भुलाया नहीं जा सकता। अन्य बर्मी युवकोंने भी पूर्ण सहयोग दिया। जिम्मेवारियाँ बँटानेमें किसीने कोई कोर-कसर नहीं रखी। समदर्शिताका स्वरूप उन्होंने खड़ा कर दिया था। उत्तरी-पूर्वी छोरके सबसे किनारेका गाँव, जहाँसे आग लगनी शुरू हुई थी, कुरुमटोला कहा जाता है। उसे बसानेके उद्देश्यसे कुछ दिन वहाँ टिकना था। वहाँ मेरे साथ दो पठान भाई थे, जिनकी वफादारीकी रेख मस्तिष्कपर आज भी अमिट है। वहाँ रहना शुरू करते ही बरसात शुरू हो गयी थी। रास्ता थोड़ा भी भूल जानेसे घुटनोंतक कीचड़में फँस जानेकी नौबत आती थी। हाथमें लुआठ (मशाल) लेकर हम लोग आते-जाते थे। एक रात ज्यों ही हम लोग निकले, वर्षा और तूफान एक साथ ही शुरू हुए। मशाल बुझ गयी। राह दिखाई नहीं देती थी। कीचड़में फँसकर बड़ी दुर्गति हुई। मस्तिष्कमें सन्तोष है कि इन कठिनाइयों और संकटोंके बाद भी काम पूरा हुआ। जागीर फिरसे बस गयी। इसके लिए ऊ टिन मांगजी, तखिन तांपे और को वा तेंइका सहयोग अपूर्व रहा।

: ६ :

बामो और उनकी सरकार

जिस समय जापानने मित्र-राष्ट्रोंके विरुद्ध युद्धघोषणा की, बर्माके 'म्योचिट' दलके नेता ऊ सो प्रधान मन्त्री थे। डाक्टर बामो "सिने था उन्थानू" के नेता थे। युवकों (तखिन) का एक दल तो सैनिक-शिक्षणके लिए गुप्त रूपसे जापान पहुँच चुका था और उनमेंसे जो बर्मामें थे वे जन-जागरणके काममें लगे हुए थे। डाक्टर बामो और तखिन दलके विचारोंमें अपेक्षित साम्य न होते हुए भी एक ही मञ्जिलके राही होनेके कारण उस समय दोनों एक-दूसरेके सन्निकट हो गये थे। युद्धके प्रारम्भिक कालमें बामोने माण्डलेमें एक सभाका आयोजन किया और वहाँ ब्रिटिश शासन-व्यवस्था तथा तत्कालीन बर्मी मन्त्रि-मण्डलकी कटु आलोचना करते हुए कहा कि युद्धके बाद स्वतन्त्रता देनेका वचन जबतक ब्रिटेन न दे दे, युद्धोद्योगमें ब्रिटेन-को कोई सहायता नहीं दी जानी चाहिये। इस सभाके बाद वे गिरफ्तार किये जाकर "मोगोक-जेलमें" रखे गये। जब जापानी फौज तेजीसे आगे बढ़ने लगी और सम्पूर्ण देशकी शासन-व्यवस्था ढीली हो गयी तो बामोने उससे लाभ उठाया और वे मोगोक-जेलसे भाग निकले। अपनी पत्नीके साथ जैसे-तैसे मेम्योके पास आकर वे एक गाँवमें छिपकर दिन काटने लगे। जापानी बामोकी ब्रिटिश-विरोधी विचारधारासे परिचित थे। रंगून हाईस्कूलमें बामोके एक अध्यापक रहनेके समय यूरोपियन प्रधानाध्यापकसे घड़ीके समयको लेकर किस प्रकार विवाद चला

इसे भी वे जानते थे। डाक्टर बामो जब प्रधानमन्त्री थे उस समय भी ब्रिटिश-विरोधी विचारोंको व्यक्त करनेमें वे नहीं हिचकते थे। सन् १९३७ की ४ दिसम्बरको एक भोजमे भाषण करते हुए बामोने जो विचार व्यक्त किया था वह अब भी उनके जीवनका ऐतिहासिक भाषण माना जाता है। भोजमें अनेक अँग्रेज उपस्थित थे और बामोंने भाषण प्रारम्भ करते हुए कहा कि "आज मै जब अपने विचार प्रकट करने खड़ा हुआ हूँ तो ऐसी घटनाएँ याद आ रही हैं जिनसे मस्तिष्क उद्भ्रान्त हो उठता है। मुझे एक विद्यालयमें अपने अध्यापन-कालकी एक बात याद आ रही है। एक यूरोपियन प्रधानाध्यापकसे मेरी अनबन इसलिए हो गयी थी कि वे अँग्रेजी घड़ीके अनुसार आचरण करनेको कहते थे, जो मुझे पसन्द नही था। उस अनबनके परिणामस्वरूप ही मेरे जीवनने तभीसे एक नयी दिशा ली और तबसे मैं सम्पूर्ण शक्ति मानसिक तथा राजनीतिक संघर्षोंमें लगाता रहा हूँ। अभी भी अँग्रेज कहते हैं कि अँग्रजी घड़ीकी रीतिसे काम लो और उसके लिए वे दलील देते हैं कि जब ब्रिटेनकी उसी विधिसे प्रगति हुई तो बर्माको इससे सफलता क्यो नहीं मिलेगी। वे कहते हैं कि स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रका विकास धीरे-धीरे होता है। ब्रिटेनको इस स्तरपर पहुँचनेमें शताब्दियो लग गये। इसका तात्पर्य यह है कि वे बर्मी प्रगतिको अपनी घड़ीके अनुकूल देखना चाहते हैं, परन्तु मै इससे सहमत नहीं हूँ।" इसी भाषणने डाक्टर बामोके प्रतिद्वन्द्वी दलको बदला चुकानेका अवसर दिया। मन्त्रिमण्डलकी बैठकमें अविश्वासका प्रस्ताव आ गया, जिसका समर्थन यूरोपीय गुटने जोरदार तरीकेसे किया। बामोके हाथसे सत्ता जाती रही। उनके स्थान-पर ऊ पूने मन्त्रिमण्डलका गठन किया, जिसमें 'म्योचिट दल'के नेता ऊ सो जंगल-विभागीय मन्त्रीकी हैसियतसे आये। ऊ

सोकी महत्त्वाकांक्षाको इतनेसे ही तृप्ति नहीं हुई। वे नये प्रधान मन्त्री ऊ पूके विपक्षमें एक मजबूत दल तैयार करने लगे और शीघ्र ही अविश्वासका प्रस्ताव लानेमें सफल हुए। यह प्रस्ताव पास भी हो गया। ऊ सोको मन्त्रिमण्डलका संघटन करनेका अवसर मिला और इस तरह राजनीतिक महत्त्वाकांक्षी ऊ सोने वह स्थान प्राप्त किया, जिसके लिए वे चिरकालसे अभिलाषा मनमें सँजोये चले आ रहे थे।

डाक्टर बामोके राजनीतिक-जीवनके ऊपर उल्लिखित उतार-चढ़ाव और विचारधाराओंसे अवगत होनेके कारण जापानियों-ने जब बर्मामें आधिपत्य स्थापित करनेके बाद अपने नियंत्रणमें बर्मी सरकार संघटित करनेका निश्चय किया तो उसके प्रमुख-पदके लिए वे बामोसे अधिक उपयुक्त किसी व्यक्तिको नहीं समझ सकते थे। सन् १९४२ की ५ मईको जब जापानियोंने मांडलेपर कब्जा कर लिया तो बामोकी तलाश शुरू की। उन्हें ढूँढ़ निकालनेके बाद ससम्मान रंगून लाया गया और उनके नेतृत्वमें बर्माकी 'आरजी सरकार'का संघटन किया गया। शान्ति-व्यवस्थापिका समितिका अन्त कर दिया गया। इस नयी शासन-व्यवस्थामें जनरल आंग सां 'बर्मा इण्डिपेण्डेंस आर्मी'के मुख्य सेनापतिकी हैसियतसे और उनके अन्य साथी अन्य पदोंपर रहकर डा० बामोकी जिम्मेवारियाँ बँटाने लगे।

महीनों बीत चले और 'बामो सरकार' जापानियोंके इशारों-पर ही चलती रही। इधर जनमतकी माँग थी कि जापानी अपने वायदेको क्यों नहीं पूरा करते। जनताकी यह भावना डा० बामो-की मार्फत जापानियोंतक पहुँचायी गयी और सन् १९४३ की १ अगस्तको 'स्वतन्त्र-बर्मा' की घोषणा कर दी गयी। इस राज-नीतिक परिवर्तनके साथ पहला रद्दो-बदल यह हुआ कि 'बी० आई० ए०' का नाम बदलकर 'बी० डी० ए०' कर दिया गया।

बी० आई० ए० से तात्पर्य था "बर्मा इण्डिपेण्डेन्स आर्मी" और यह नाम सार्थक भी था, क्योंकि बर्माको स्वतन्त्रता (इण्डिपेण्डेंस) दिलानेके लिए जो युवक सैनिक-शिक्षण प्राप्त करने गुप्त रूपसे जापान गये थे, पहले-पहल, यह सैनिक टुकड़ी उनसे बनी थी। अब बर्माके स्वतन्त्र घोषित किये जानेके बाद इसपर रक्षा (डिफेन्स) का भार आ गया था, अतएव इसका नाम "बर्मा डिफेन्स आर्मी" रखना भी युक्तियुक्त था। स्वर्गीय जनरल आंग सां स्वतंत्र बर्मी सरकारके रक्षा-मंत्री नियुक्त किये गये और 'बी० डी० ए०' उन्हीं-के मातहत रही।

डाक्टर बामो अडिपडीकी, जिसे लोग संस्कृत शब्द 'अधि-पति'का अपभ्रंश बताते हैं, उपाधिसे विभूषित किये गये। आपकी सहायताके लिए ३० सदस्योंकी एक 'प्रिवी कौंसिल'का संघटन किया गया। इन सदस्योंका नामांकन अधिपतिने ही जापानियों-से परामर्श करके किया। इसके बाद ही डाक्टर बामोने एक नये राजनीतिक दलका भी निर्माण किया। आपने इस दलका नाम 'महाबामा' दल रखा, जिसका अर्थ है 'महान बर्मा'का दल। इसमें अधिकांश सदस्य बामोके युद्धपूर्वके सिनेथा-दलके थे और इने-गिने 'तखिन' भी थे।

इनसे पहले भी युद्धकालिक बर्माका एकमात्र राजनीतिक दल 'डो बामा सिन्येथा असियौ' था, जिसके अन्तर्गत डाक्टर बामोका 'सिन्येथा दल', 'तखिन दल' और 'म्योचिट दल' भी सम्मिलत था। म्योचिट दलके नेता हेन्जडाके ऊ म्या थे। जनरलने जिनको सत्ता सौंपनेवाले प्रधान मंत्री तखिन नू उस समय 'डो बामा सिन्येथा असियौ'के मुख्य कार्य-कर्ता थे।

शासन-व्यवस्थाका संचालन रंगूनसे होता था, सेक्रेटेरियट भवनसे बामो-सरकारका काम चलता था और वर्तमान राष्ट्रपति भवनमें 'जापानी सैनिक प्रधान कार्यालय' था। केन्द्रमें जो

परिवर्तन होता था उसका देशव्यापी प्रभाव पड़ता था। शान्ति-व्यवस्थापिकाके स्थानपर जब बामोकी 'आरजी सरकार'ने शासन-सूत्र सँभाला तो व्यवस्थाके इस परिवर्तनका असर सम्पूर्ण देशपर पड़ा। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि बामो सरकारकी स्थापनाके बाद तखिन ठुन ओक और तखिनबा सेईको गिरफ्तार कर निर्वासित कर दिया गया। ठुन ओक उन ३१ युवकोमेसे, जो सैनिक-शिक्षणके लिए जापान गये थे, एक थे और जापानी फौजो द्वारा रंगूनपर कब्जा होनेके बाद जिनकी अध्यक्षतामें शान्ति-व्यवस्थापिका समितिका निर्माण हुआ था।

टाँगू जिलेकी जियावडी जागीरको फिरसे बसाने और वहाँ शान्ति स्थापित करनेके लिए जिस शिविरकी स्थापना की,गयी थी उसकी वैधानिक स्थिति भी बदली। उस 'शिविर'को थानेका रूप दिया जाने लगा। थानेदारी इस जनके सिर मढ़ी जाने लगी। क्योकि 'सुरक्षा-शिविर'का संचालक भी मै ही था। एक अध्यापक और थानेदारी! पर विवशता थी। कैसी विडम्बना है! जियावडी चीनी मिलके प्रबन्धक और बर्मी अधिकारी दोनोमेसे कोई छुटकारा देनेके लिए तैयार नही थे। उधर एक मुसीबत और खड़ी हो गयी थी। यह खबर बड़े जोरोपर थी कि जो लोग पुलिस ट्रेनिगके लिए जाते थे उन्हे जापानी बहुत मारते-पीटते थे। जापानी आधिपत्यकालमे सुरक्षाके लिए जो थाने स्थापित किये गये थे उनका भार सँहालनेके लिए जिन्हे नियुक्त किया गया था उन्हे जापानी मिलिटरी पुलिसके मातहत पुलिस-ट्रेनिग लेनी पड़ती थी। इस खबरका आधार भी था। जापानी मिलिटरी पुलिसने हद दर्जेकी बर्बरता शुरू कर दर्जनो व्यक्तियोको तो सन्देहमे गिरफ्तार कर बिना कोई जाँच किये ही गोलीसे उड़ा दिया था। कुछको तो मारकर उनकी लाशें चौराहोंपर टाँग दी गयी थीं। धनी और प्रतिष्ठित आदमियोको भी ब्रिटिश-

खुफिया होनेके सन्देहमें गिरफ्तार कर लेते और अनेक तरहकी यातनाऍं देते थे। उनकी इन बर्बरताओंका ताण्डव नृत्य नित नये ढंगसे होते रहनेके कारण इस खबरमें विश्वास करना और पुलिस ट्रेनिगके लिए जानेमे भय मानना कोई आश्चर्यकी बात नही थी। अन्ततः मै पुलिसकी ट्रेनिंग लेनेके लिए गया और वहॉसे सफल वापस आया। जापानियोंकी क्रूरताके सम्बन्धमे जो कुछ सुनता आ रहा था वह किवदन्ती सिद्ध हुई। एक बात उल्लेखनीय जरूर है और वह यह कि जापानी 'सब धान बाइस पसेरीके भाव'से ही तौलते थे। मेरे साथ ट्रेनिगके लिए जानेवाले अनेक ऐसे अधिकारी थे जो पुलिस कानूनके मर्मज्ञ थे, जिनमेंसे कतिपय आज डिस्ट्रिक्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट आफ पुलिस हैं और युद्ध-पूर्वकालमे भी जो जिम्मेवार अधिकारी रह चुके थे। किन्तु परीक्षाकालमे इन सबके लिए जापानियोके पास कोई विचार नहीं था। उन्होने एक दिन तो साढ़े चार मीलकी दौड़ करायी और फिर दूसरे दिन कुछ परेड कराकर कुश्ती लड़ायी। यही इनकी परीक्षाकी रीतियॉ थी। इनमे जो जिस श्रेणीमे उत्तीर्ण होता उसे वैसी जगहपर नियुक्त कर देते। बर्मी फुटबाल खेलना जानते है, बाक्सिग जानते है, घूँसे खूब चलाते है और छूरा भी भोकते है, लेकिन कुश्तीका मर्म मेरे जैसो जितना भी नही जानते। १४४ आदमियोके बीच जो विजयी (चैम्पियन) सिद्ध हुआ था उससे कुश्ती लड़नी पड़ी और नाग-पंचमीके दिनकी समझी गयी 'लंगी' काम कर गयी। मै विजयी हुआ। अनचाही थानेदारी सिर पड़ी।

: ७ :

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोसके सम्बन्धमे संस्मरणोके आधार-पर विचार देनेकी तन्मयतामे होते ही महाकवि बिहारीकी निम्न पंक्तियॉ स्मृति पटलपर छा आयी है—

"लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर।
हुए न केते जगतके, चतुर चितेरे कूर॥"

सन् १९४२ के मार्च या अप्रैलका महीना था जब सुभाष बाबूका बर्लिन रेडियोसे किया गया एक भाषण सुननेको मिला। भारतसे अन्तर्द्धान हो वहॉ पहुँचनेके बादका आपका वह प्रथम भाषण था अथवा बादका यह नही कहा जा सकता, किन्तु लेखकके निमित्त यह सर्वप्रथम था। उस समयतक जापानी फौजोंने सारे मध्य बर्मापर कब्जा कर लिया था और टॉगू तथा इस जिलेकी जियावडी जागीर जापानी अधिकृत क्षेत्रमें आ गये थे। आम तौरपर रेडियो सुननेपर प्रतिबन्ध था। परन्तु जागीरके प्रबन्धक बंगलेपर रखे एक रेडियोका लुक-छिपकर उपयोग कर लिया करते थे।

विगत विश्वयुद्धकी भीषणता उस समय कदाचित् पराकाष्ठा-पर पहुँची थी और मित्र राष्ट्रो, विशेषतया ब्रिटेनकी जय और पराजयका भारी दारोमदार अंग्रेजी छत्रच्छायामें लड़ते हुए भार-तीय सैनिकोकी रणचातुरीपर समझना युक्तियुक्त था। सुभाष बाबूके भाषणकी अधिक बातें याद नही हैं, किन्तु वे इन भारतीय

सैनिकोको निर्देशभरी यह चेतावनियॉ देते थे कि "अंग्रेजोके लिए भारतीय सैनिक अपनी जान न दें बल्कि बन्दूकोका मुँह सामनेसे पीछेकी ओर फेरकर उनका काम तमाम करनेकी सोचे। इस युद्धमे विजयी होनेके बाद ॲंग्रेज भारतमे अपना पॉव और मजबूतीसे जमानेकी सोचेंगे, न कि भारतको आजादी देनेकी।" नेताजी अपनी इस धारणाके समर्थनमे प्रथम विश्वमहायुद्धके बाद अपनायी गयी ॲंग्रेजोकी अमानवीय नीतियोका हवाला देते और कहते कि इस बारकी चूक भारतके लिए महान् घातक सिद्ध होगी।

बर्लिन आकाशवाणीका भाषण सुननेके बाद नेताजीके प्रत्यक्ष दर्शन तब अक्सर होने लगे जब आपका बर्मा पदार्पण हुआ। नेताजीका बर्मा आगमन पहली बार नही हुआ था। इसके पहले एक बार भारतकी ॲंग्रेजी सरकार द्वारा आप बन्दीके रूपमे १९२५ में बर्मा लाये गये थे। भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलनमे सुभाषचन्द्रकी भूमिकाके बारेमे विशेष न लिखकर यह कहना ही काफी होगा कि सन् १९२४ में ही ब्रिटिश सरकार उन्हे ऐसा खतरनाक समझती थी कि २५ अक्तूबर सन् १९२४ को 'बंगाल क्रिमिनल लॉ अमेण्डमेण्ट आर्डिनेन्स'के अन्तर्गत जब सुभाष बाबू गिरफ्तार किये गये तो कुछ काल अलीपुर सेण्ट्रल जेलमे रखे जानेके बाद आपको अन्य आठ देशभक्तोके साथ बर्मा भेज दिया गया। सन् १९२५ के जनवरी महीनेसे सन् १९२७ के मई महीनेतक सुभाष बाबू बर्माकी दो प्रमुख जेलो—माण्डले और इन्सिनमे रहे। यहॉके कारावास कालमे सुभाष बाबू और उनके साथी परस्पर गर्व और सान्त्वना भरी यह चर्चा किया करते थे कि काराकी इन कोठरियोमे लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, पंजाबकेशरी लाला लाजपतराय और सरदार अजितसिह जैसे महान् भारतीय भी रह चुके है। सन् १९२७के मई मासके प्रारम्भ-

में सुभाषबाबू और उनके साथियोंको भारत ले जाया गया और १६ मईको रिहा कर दिया गया। रंगून (निचले बर्मा) से ऊपरी बर्माकी ओर जाते और उधरसे वापस होते हुए नेताजी हर बार जियावडी रुकते। जियावडीके आपके आकर्षणका केन्द्रविन्दु होनेके दो विशेष हेतु थे। आप जानते थे कि जियावडी जागीर और चीनी मिल एक भारतीयकी सम्पत्ति थी तथा बिहार प्रान्तसे लाकर बसाये गये हजारों किसान वहाँ तीन पीढ़ियोंसे रह रहे थे। दूसरा कारण यह था कि नेताजीके निर्देशमें संघटित एवं संचालित 'इण्डियन नेशनल आर्मी' और भारतीय आरजी सरकारके विविध विभागोंकी शाखाएँ यहाँ खुल चुकी थीं, जिनकी ओर ध्यान देना भी वे आवश्यक समझते थे।

जब आप जियावडीमें रुकते तो आपसे साक्षात्कारका अवसर लगभग हर बार मिलता था। विविध शिविरोंके निरीक्षण-कालमें आपके साथ होनेके भी दो अवसर मिले थे। अब तो उस देदीप्यमान व्यक्तित्वका स्मरण होते ही मन शोकाकुल हो जाता है और आँखें डबडबा आती हैं, किन्तु तब उसपर एक दृष्टि डालते ही गर्वसे हृदय फूल उठता और रोम-रोम पुककित हो जाता था।

नेताजीका प्रत्यक्ष किया गया भाषण सुननेका अवसर इस जनको एक बार ही मिला था। यह सन् १९४३ के २४ दिसम्बर-की बात है। रंगूनके सिटी हालमें एक सार्वजनिक सभामें आपने भाषण २ बजे आरम्भ किया और जब उसे समाप्त किया तो जियावडी चीनी मिलके तत्कालीन चीफ इंजिनियर श्री सरजूसिंह, जो लेखककी बगलकी ही कुर्सीपर बैठे थे, अपनी कलाईकी घड़ीपर नजर फेरते हुए सहसा बोल पड़े "श्यामाचरणजी, नेताजी चार घण्टेतक बोले"। ऐसा था नेताजीकी वाणीका आकर्षण। अबसे १४ वर्षों पहले किये गये आपके भाषणकी

बहुत बाते याद नहीं है। स्मृतियोपर जोर देनेसे दो-तीन सैद्धान्तिक विचारोंका स्मरण आ रहा है। नेताजीने कहा था कि "युद्धकी विजय और पराजय सैनिकोकी बड़ी संख्या अथवा सैन्य सामग्रीकी प्रचुरतापर अवलम्बित नही होती"। आपने कहा था कि "यह मै (नेताजी) नहीं कह रहा हूं, विगत युद्धोके इतिहास इसके साक्षी है। प्रथम विश्वयुद्धमे ब्रिटेन कदापि विजयी नहीं हो सकता था यदि उसके प्रचारके कारण जर्मन फौजोका नैतिक पतन न हो गया होता। इसलिए युद्धमे विजय-का सेहरा उस पक्षके सरपर बँधता है जिस पक्षके सैनिक अल्प-संख्यक होते हुए भी हर अवस्थामे नैतिक सन्तुलन कायम रखते हैं"। नेताजीने विश्वके विविध क्रान्तिकारी परिवर्तनोकी झाँकी प्रस्तुत करते हुए जब यह कहा कि "३८ करोड़ भारत-वासियोको आजादी दिलानेके लिए दक्षिणी पूर्वी एशियाके ३० लाख भारतीय अपनेको निछावर कर दे तो यह कोई बड़ी कुर्बानी न होगी और जो इस कुर्बानीके लिए तैयार हों, खड़े हो जायँ", तो हालके भीतर और बगलके सभी लोग झट उठकर खड़े हो गये थे।

इस सभामे बर्मा-भारतके सीमास्थित मोर्चोसे लौटे हुए आई० एन० ए० के कतिपय सैनिकोंको बहादुरीके पदक दिये गये और अनेकने नेताजीकी सरकारकी सहायताके लिए सर्वस्वार्पण-की घोषणाएँ की। इसी सभामे जियावडी चीनी मिल और जागीरके श्री परमानन्द श्रीवास्तवके उत्तराधिकारी जनरल मैनेजर श्री रामचन्द्रप्रसादने परमानन्दकी अनुमतिसे मिल और जागीर-की व्यवस्थाओको नेताजीकी आरजी आजाद हिन्द सरकारके हवाले करनेकी घोषणा की और स्पष्ट किया कि भविष्यमे इनकी आयका उपयोग उक्त सरकार करेगी। नेताजीको पहनायी गयी अनेक मालाएँ लाखो रुपयोमे नीलाम की गयी।

उन्हीं दिनों, युद्धकालमें ही, नेताजीकी जयन्तीके अवसरके लिए रंगूनके प्रकाश प्रिण्टिग वर्क्सके मालिक श्री अनन्तराम मिश्रने एक कविता लिखी थी, जिसकी निम्नलिखित दो पंक्तियाँ ही अब स्मरण रह गयी हैं—

"चिरजीवि, ओ, गगा, यमुना त्रिवेणीके पानी तू,
चिरजीवि, ओ अरिमर्दनके हेतु चला सेनानी तू"

भरत-भूमिको गुलामीकी जंजीरोसे मुक्त करानेकी साधनामे लीन नेताजीका व्यक्तित्व निश्चय ही गंगा-जमुना और त्रिवेणीके पानीके जीवन-सत्त्वका साकार स्वरूप तथा इनके संगमस्थलके सदृश पवित्र था।

: ८ :

आई० एन० ए० का जन्म

सन् १९४२ की १५ फरवरीको सिंगापुरका पतन हुआ। ब्रिटिश सरकारका यह पूर्वीय अभेद्य दुर्ग था। १६ फरवरीको अंग्रेज सैनिक अधिकारी लेफ्टिनेण्ट कर्नल हण्टने सिंगापुरके मध्यमे अवस्थित फरेर पार्कमें सभी सैनिकोंको जापानियोंके हाथ समर्पित करनेके लिए एकत्र किया। इनकी संख्या कुल ९० हजार थी, जिनमे भारतीय सैनिक ५० हजार थे। आई० एन० ए० के इतिहासके पन्नोंको स्वर्णिम बनानेवाले सेनानी कप्तान मोहनसिंह, भोंसले, कियानी, चटर्जी, शाहनवाज, सहगल और ढिल्लन आदि इन्हींमे थे। वास्तवमें आई० एन० ए० की नींवका पहला पत्थर तो उसी दिन कप्तान मोहनसिंहने ब्रिटिश विरोधी भाषण करके रखा।

इन भारतीय सेनानियोंमे श्री निरंजनसिंह गिल सर्वोच्च पदपर थे। इन्होंने कप्तान मोहनसिंहसे विचार-विमर्श करना शुरू किया। फरवरी महीनेके अन्तमे आप साइगोन गये और वहाँ जापानी प्रधान सेनापति फील्ड मार्शल तेरावचीसे बातचीत की। मार्च महीनेमें टोकियोमें एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमे मलाया, श्याम और चीनके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। श्री निरंजनसिंह गिल और कप्तान मोहनसिंह भारतीय सैनिकोंके प्रतिनिधिके रूपमे सिंगापुरसे गये और इन लोगोंने श्री रासबिहारी बोस और श्री आनन्दमोहन सहायको साथ लेकर तत्कालीन जापान सरकारके प्रधानमन्त्री जेनरल तोजो तथा अन्य अधिकारियोंसे भी बातचीत की। यहीं, जापान सरकार, रासबिहारी

बोस और निरंजनसिंह गिल तथा कप्तान मोहनसिंहके परामर्शसे निश्चय हुआ कि सम्पूर्ण दक्षिणी-पूर्वी एशियामें इंडियन नेशनल आर्मी तथा इंडियन इंडिपेण्डेन्स लीगकी स्थापना की जाय। पूर्ण रूपसे परस्पर-परामर्शके बाद जुलाई महीनेमें बैंकाकमें एक बृहद् सम्मेलनका आयोजन किया गया, जिसमें पूर्वी एशिया-के सभी देशोंके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। सम्मेलनका सभा-पतित्व श्री रासबिहारी बोसने किया था।

सम्मेलनने एक कार्यसमितिका संघटन किया, जिसके अध्यक्ष श्री रासबिहारी बोस निर्वाचित किये गये और मोहनसिंह, मेनन, राघवन् और कियानी सदस्य। मोहनसिंह 'आई० एन० ए०' के 'जी० ओ० सी०' (जेनरल आफिसर कमाण्डिग) नियुक्त हुए।

आत्मसमर्पणके समय अंग्रेज और भारतीय सैनिक एक साथ ही रखे गये थे, किन्तु थोड़े ही दिन पीछे उन्हें अलग-अलग शिविरोंमें रख दिया गया और 'आई० एन० ए०' के संघटनका निश्चय होनेके बाद जब भारतीय सैनिकोंसे पूछा गया तो इनमेंसे ४० हजारने मातृभूमिकी स्वतन्त्रताके लिए अपनेको उत्सर्ग कर देनेका वचन दिया। बैंकाक सम्मेलनके केवल दो महीने बाद १ सितम्बरतक ये सारी कारवाइयाँ सम्पन्न हो गयीं। सम्पूर्ण दक्षिणी-पूर्वी एशियामें एक नयी लहरका दौरदौरा शुरू हो गया। इंडियन इंडिपेण्डेन्स लीगकी शाखाएँ और उपशाखाएँ खुलने लगी। इन्हीं दिनों बर्मामें भी अखिल बर्मा टेरिटोरियल लीग कमेटीका संघटन हुआ, जिसके अध्यक्ष श्री बालेश्वरप्रसाद, महा-मन्त्री श्री देश पाण्डेय और राजनीतिक मन्त्री श्री सुकुमारसेन गुप्त निर्वाचित हुए।

: ९ :

सुभाष बाबू पूर्वी एशियामें

'आई० एन० ए०' का संघटन भारतीय सेनानियोंने देश (भारत) सेवाकी भावनासे प्रेरित होकर किया था, परन्तु उन्हें ऐसा भान होने लगा कि जापानी इस फौजको अपने इशारोंपर नाचते देखना चाहते थे। वे इनपर पूर्ण रूपसे विश्वास नहीं करते थे। करीब १५ हजार सैनिकोंके लिए युद्ध-सामग्री देनेके सम्बन्धमें हीला-हवाली करने लगे। मतभेदकी खाई बढ़ने लगी और अन्ततः आई० एन० ए० के अधिकारियोंने माँग की कि "जापानी 'आई० एन० ए०' को स्वतन्त्र-सेना मान लें, भारतीय स्वतन्त्रताकी घोषणा कर दें और यह स्वीकार कर ले कि पूर्वी एशियाके भारतीय और उनकी सम्पत्ति इंडियन इण्डिपेण्डेन्स लीग की है।" जापानी इसपर सहमत नहीं हुए। इन माँगोंको टोकियो तक पहुँचाया-तक नहीं। इस गतिविधिसे जनरल मोहनसिंह ऐसे रुष्ट हुए कि उन्होंने 'आई० एन० ए०' के विघटनका आदेश जारी कर दिया। इस घटनासे जापानी तो आग-बबूला हुए ही, रासबिहारी बोस भी क्षुब्ध हो गये और उन्होंने मोहनसिंहको सेनापति-पदसे अलग कर दिया। साथ ही जापानियोंने अत्यन्त कटु रुख अख्तियार कर लिया, कर्नल गिल और मोहनसिंहको नजरबन्द कर किसी अनिश्चित स्थानको भेज दिया गया।

आई० एन० ए० की आवश्यकताको रासबिहारी बोस तथा जापानी और बचे हुए भारतीय सैनिक अधिकारी हृदयसे महसूस कर रहे थे। किन्तु दृष्टिकोणमें भेदके कारण इसका पुनर्गठन

सम्भव नहीं हो रहा था। मतैक्यके माध्यमका सर्वथा अभाव था।

भारतीय सैनिक अधिकारियोंमे अनेक उच्चतर शिक्षा-प्राप्त थे। वे जीवन-यापनके निमित्त अंग्रेजी छत्रच्छायामे भले ही काम करते आ रहे थे, परन्तु उन्हे अपने और अपने देशके सम्मान और गौरवका ज्ञान था। वे विश्व-राजनीतिके सन्तुलन और भारतीय राजनीतिका सम्यक् ज्ञान रखते थे। उनकी दृष्टि बर्लिन (जर्मनी) की ओर गयी, जहाँ सन् १९४१ की २८ मार्चसे सुभाषचन्द्रबोस, भारतसे अन्तर्द्धान हो, विराजमान थे। उन्हे यह सूझा कि यदि सुभाष बाबूका पूर्वी एशियामें आगमन हो जाय तो आई० एन० ए० का पुनर्गठन किया जा सकेगा। इन अधिकारियोंने जापान सरकारके सामने अपनी उक्त धारणा व्यक्त करते हुए सुझाव दिया कि वह जर्मन सरकारसे अनुरोध करे कि वह "श्री सुभाषचन्द्र वसुको पूर्वी एशियामे आने दे"। जर्मनी और जापानके स्वार्थ अन्तःसम्बद्ध हो चुके थे। यह सुझाव जर्मन सरकारको जँचा और उसने सुभाष बाबूके पूर्वी एशियामे आने देनेका प्रस्ताव मान लिया।

जापानियोंसे सब प्रकार आश्वासन और विश्वास पानेके बाद सन् १९४२ की फरवरीसे आई० एन० ए० का पुनर्गठन शुरू कर दिया गया। मेजर जेनरल जे० के० भोसलेको सैनिक-ब्यूरोका संचालक और जेनरल कियानीको सेनापति नियुक्त किया गया।

पुनर्गठन होनेके बाद भी आई० एन० ए० की स्थिति अनिश्चित ही रही। भारतीय कार्यकर्त्ताओंका ध्यान सुभाषबाबूके आगमनपर ही केन्द्रित रहा। युद्धकी भीषणता चरम बिन्दुपर पहुँची हुई थी। जर्मनीसे पूर्वी एशियाके लिए सुभाषबाबूकी यात्रा खतरेसे खाली नहीं थी, किन्तु वे आये। एक पनडुब्बीसे यात्रा करके पहले वे पेनांग पहुँचे और वहाँसे विमान द्वारा टोकियो। सन् १९४३ के जून मासमें उनका पहला भाषण टोकियो

रेडियोसे सुना गया। जर्मनीसे टोकियोतककी इस यात्रामें आबिद
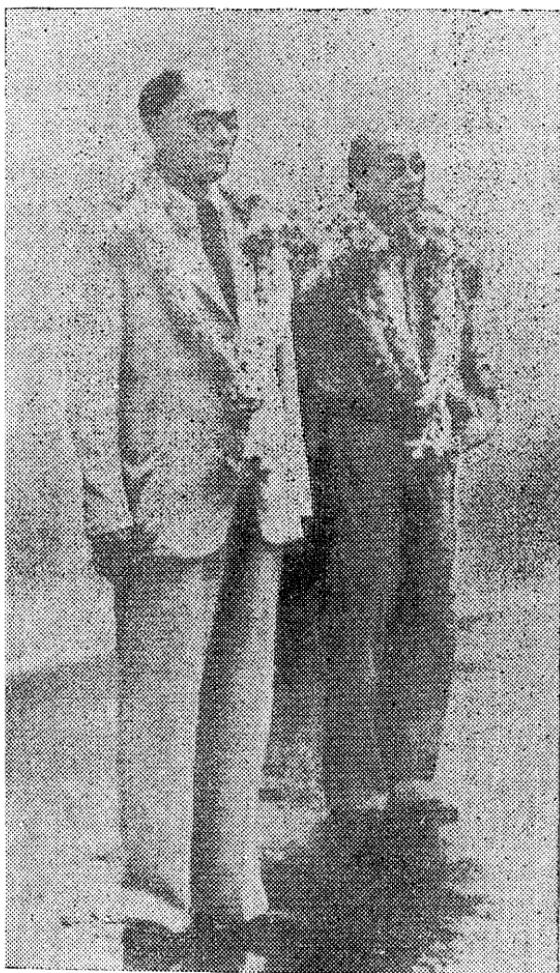
नेताजी सुभाष बसु श्री रासबिहारी बसुके साथ

हुसेन नामक एक विश्वासपात्र मुसलिम सज्जन भी आपके साथ

थे। सन् १९४३ की २ जुलाईको आप सिंगापुर आये। इसी दिन आपने श्री रासबिहारी बोससे पूर्वी एशियाई इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स लीगका चार्ज लिया। कदाचित् इसी दिनसे श्री रासबिहारी बोस द्वारा सम्बोधित होनेके कारण आपको 'नेताजी' कहा जाने लगा। उस दिन आपने एक घण्टाके अपने भाषणमें यह बताया कि आजादीकी लड़ाई लड़नेके लिए जरूरी है कि पहले लड़नेवाले लोग अपनेको आजाद समझने लगे। आपने यह भी संकेत किया कि सम्भव है आजाद हिन्दकी आरजी सरकारका भी शीघ्र ही निर्माण किया जाय।

आई० एन० ए० के इतिहासमें सन् १९४३ की ८ जुलाईको सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये। इसी तिथिको नेताजी सुभाषचन्द्र बोसने इसका नामकरण 'आजाद हिन्द फौज' किया। आपने कहा कि "हमारा अभीष्ट दिल्ली पहुँचना और लाल किलेपर तिरंगा फहराना है, और हमारा नारा 'चलो दिल्ली' है।"

सन् १९४३ की २१ अक्तूबरको नेताजीने 'भारतीय आरजी सरकार'के संघटन और उसके दूसरे दिन २२ अक्तूबरको ब्रिटेन और अमेरिकाके विरुद्ध युद्धकी घोषणाएँ कीं।

आई० एन० ए० का पुनर्गठन और भारतीय आरजी सरकारकी घोषणा होनेके बाद भी कुछ भारतीय सेनाधिकारी जापानियोंपर तबतक विश्वास नहीं कर सके जबतक नेताजीने उन्हें यह नहीं समझा दिया कि "सन्देह करना बेकार है। जापानी और आई० एन० ए० के स्वार्थ अन्तरावलम्बित हैं। हमें अपने देशकी स्वतन्त्रताके लिए लड़नेमें यदि जापानियोंकी सहायता की आवश्यकता है तो युद्ध-क्षेत्रमें लड़ते हुए उसी दुश्मन ब्रिटेनको हरानेके लिए जापानियोंको आई० एन० ए० के सहयोगकी।"

: १० :

'झाँसी रानी फौज'

पूर्वी एशियाई इंडियन इण्डिपेण्डेन्स लीगकी बागडोर हाथमें लेनेके बाद नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोसने महिला फौजके निर्माण-के बारेमें सोच-विचार करना शुरू कर दिया था। किन्तु, वे शीघ्र इसका संघटन नहीं कर सके। जापानी सरकारकी सुभाषचन्द्र बोससे जो कुछ बातचीत हो चुकी थी उसके अनुसार 'फौज-लीग और सरकार'के अस्तित्व तो स्वतन्त्र थे, परन्तु सैनिक कार्य-प्रणाली अथवा किसी नयी योजनाको कार्यान्वित करनेसे पहले जापानी अधिकारियोसे परस्पर विचार-विमर्श अनिवार्य था। महिला सेनाका संघटन, जिसका नामकरण नेताजीने 'झाँसी रानी फौज' किया था, राजनीतिक इतिहासके लिए एक नयी बात थी और जापानियोके लिए तो अजब चीज थी। भले ही कुछ भारतीय देवियोके कार्य इतिहासके पन्नोपर मोती बिखेरते हो, भले ही पश्चिमी देशोकी नारियोंको सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो, और भले ही बर्मा जैसे देशोकी स्त्रियाँ किसी-किसी अर्थमे पुरुषो-से भी अधिक निपुण हो, किन्तु केवल स्त्रियोकी ही फौज तैयार की गयी हो और जो युद्धके मोर्चोपर लड़नेके लिए भेजी जाय, यह बात कही नही मिलती। तीन महीनेतक अनवरत रूपसे लगे रहनेके बाद नेताजी जापानियोंको ऐसे संघटनके सम्बन्धमें सहमत कर पाये और सन् १९४३ की २१ अक्तूबरको सिंगापुर तथा रंगूनमें एक साथ 'झाँसी रानी फौज'के शिक्षण-शिविर खोले गये। इसी दिन आजाद हिन्दकी आरजी सरकारकी भी स्थापना की

गयी थी और यह वही तिथि थी, जिस दिन झाँसीकी रानी लक्ष्मी-बाईका भी जन्म हुआ था। फौजी शिक्षणके लिए भरती होने-वाली बालिकाएँ विभिन्न शिक्षा, स्तर और अवस्थाओंकी थीं। इसलिए उन्हे भिन्न-भिन्न श्रेणियों और प्लेटूनोंमे रखना अनिवार्य था और ऐसा ही किया गया। इन शिक्षण-केन्द्रोंमें भरती होने-वाली बालाएँ हर श्रेणी, व्यवसाय तथा जाति-धर्मके परिवारोंकी थीं। घरोंमें इनकी विचार-धाराएँ भिन्न-भिन्न थीं, किन्तु शिक्षण-शिविरोंमे आनेके बाद उनकी जाति और धर्म-भेदकी संकीर्णताएँ जाती रहीं। कुछ तो ऐसी देवियाँ भी आगे आयी जो बिलकुल अशिक्षिता और घरकी चहारदिवारियोंमे बन्द रहनेवाली थी। सच तो यह है कि यदि आई० एन० ए० और आजाद हिन्दकी आरजी सरकारने पूर्वीय एशियाके पुरुषवर्गको स्वदेशकी स्वतन्त्रताके लिए सर्वसमर्पण करनेका पाठ पढ़ाया तो 'झाँसी रानी फौज'के आन्दोलनने नारियोंको उद्‌बुद्ध किया कि इस पवित्र यज्ञमें उन्हे पुरुषोंसे पीछे नही रहना चाहिये।

'झाँसी रानी फौज'की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली वैसी ही थी जैसी पुरुषोंके सैनिक-केन्द्रोंकी होती है। सैनिक नियन्त्रण और नियमों तथा रीतियोंका परिपूर्ण रूपसे पालन किया जाता था। भारतके राष्ट्रीय तिरंगे झण्डेकी सलामीके साथ प्रातः ६ बजेसे शिक्षण-शिविरोंके काम शुरू हो जाते थे। ६। से ७ तक शारीरिक व्यायाम होता था। ७॥ से ८ बजेतक जलपान करके सभी देवियाँ सैनिक-शिक्षणके मैदानमे चली जाती थीं। दो घण्टेकी सख्त कवायदके पश्चात् उन्हे आरामका मौका मिलता था। भोजनोपरान्त आध घण्टे आराम करनेके बाद फिर वे पठन-पाठनके काममें लगा दी जाती थीं। फौजी सभी आदेश (काशन) हिन्दीमे दिये जाते थे। अहिन्दी-भाषी प्रान्तोंकी छात्राओंको उच्चारणमे कठिनाई होती थी, इसलिए उन्हे लिखाकर याद कराया जाता था

तथा अन्यान्य फौजी आदेशोको भी लेखबद्ध कराया जाता था। यह लेखनकार्य किस लिपिमें किया जाय इस प्रश्नको लेकर विवाद खड़ा हो गया था। कुछ लोग उर्दूके पक्षमे थे और कुछ लोग देवनागरीके। इसपर नेताजीने रोमन लिपिका प्रयोग करनेको कहा और लेखनकार्यमे वही चालू हुई।

दो घण्टेके पठन-पाठनके पश्चात् फिर दो घण्टेके सैनिक-शिक्षणके होते थे। दिनान्त राष्ट्रीय-ज्ञान और ध्वज उतारनेके साथ होता था। सायं ७ बजे भोजनके पश्चात् एक घण्टा परस्पर वार्ता और सामयिक विषयोपर वाद-विवादके लिए दिया जाता था। प्रारम्भमे प्रवेशार्थियोकी संख्या बहुत थोड़ी थी, परन्तु बादमे एक हजार ऐसी देवियाँ तैयार हो गयी थीं जो पुरुषोके साथ बन्दूके लेकर डट सकती थीं।

फौज और आरजी सरकारको समझनेका मौका तो आरम्भमें ही मिला था, किन्तु 'झाँसी रानी फौज'के कार्योंको सन्निकटसे जाननेका अवसर बहुत बादमे मिला। इस फौजकी प्रधान सेना-नायिका लेफ्टिनेण्ट कर्नल, तब कुमारी और अब श्रीमती लक्ष्मी सहगल, सन् १९४४ मे कुछ समयके लिए जियावडीमे अवकाशके दिन बिताने अथवा स्वास्थ्य-लाभके निमित्त आयी थीं। जिस थानेकी जिम्मेदारी इन पंक्तियोके लेखकपर थी वहाँसे सवारीके लिए घोड़े लेनेके निमित्त कभी आदमी भेजने और कभी स्वयं भी आनेका अनुग्रह करती थीं। मेरी मातहतीमें उन दिनो पाँच घोड़े-घोड़ी थे। घोड़ोमे अच्छी राशिका एक ही था। परन्तु वह कभी-कभी मौजमे आ जानेपर बेकहा हो जाता था। इसलिए जो घोड़ी थानेमे थी उसीको पूरी सावधानीसे तैयार करके उनकी सेवामें हाजिर कर दिया जाता था। इसमे यह विशेषता थी कि जैसा सवार पाती वैसा ही चलती थी। थानेके कर्म-चारियोको तो एक भारतीय महिलाका घुड़सवारी करना

कौतूहलपूर्ण लगता था। थानेमें एक सईसके, जो ब्रिटिश सवार-सेनामें काम कर चुका था और वफादार भी था, होते हुए भी घोड़ीपर जीन मैं स्वयं कसता और रिकाब वगैरह खींच-खाँचकर देख लिया करता। वापसीमें यदि थानेमें उपस्थित रहता तो उनसे लेने भी स्वयं ही जाता। वस्तुतः 'झाँसी रानी फौज'की प्रधान सेनानायिकाकी इस सईससे ही उनकी फौजके सम्बन्धमें यथासाध्य अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करनेकी प्रथम प्रेरणा लेखकको हुई थी।

काम करनेवाली देवियोंमें जो दृढ़ता तथा सेवापरायणता मैंने स्वयं देखी उसे प्रस्तुत कर देना समीचीन लगता है। जियावडी चीनी मिल सम्पूर्ण युद्धकालमें मित्रराष्ट्रीय बम-वर्षाओं-से बची रही और इस बचावकी व्यवस्था इसके मालिक श्री सी० पी० सिनहाने निर्वासित बर्मा सरकारके माध्यमसे जो उस समय शिमला (भारत) में थी कर रखी थी, ऐसा कहा जाता है। युद्धके अन्तिम दिनोंमें इसपर भी वज्रपात हो ही गया, जिसमें दर्जनों आदमी हताहत हुए। इन आहतोंका उपचार करनेमें जिस निर्भीकता, दृढ़ता और कर्तव्यपरायणताका परिचय 'झाँसी रानी फौज'की देवियोंने दिया उसे यदि अद्भुत कहा जाय तो यथार्थ ही होगा।

थोड़ा-सा अँधेरा हो चला था जब मित्रराष्ट्रीय 'बमवर्षकों'-ने मिलपर बमवर्षा की। उस समय मिल पूरी तरह चल रही थी। 'बमवर्षकों'के निकल जानेके बाद चीखने-चिल्लानेवाले घायलों और उनके साथी कर्मचारियोंके अतिरिक्त बाहर शायद एक भी आदमी तत्काल नहीं दिखाई दिया। शीघ्र ही देवियोंकी टोलियाँ आती दीख पड़ीं। ये टोलियाँ वीरांगना पद्मावती और लक्ष्मी बाई-के धूमिल होते इतिहासको पुनर्ज्योति देनेकी व्रती 'झाँसी रानी फौज'की नेत्रियोंकी ही थीं। मिलसे लगभग २०० गज दक्षिणके

चिकित्सालयमें आहतोंको ले जाया गया। यह काम तो सबने मिल कर किया, किन्तु जब आहत वहाँ पहुँचा दिये गये, उसके बादसे मानों किसीकी जरूरत ही नही रह गयी। जख्मियोंके उपचारका सारा काम देवियोंने अपने ऊपर ले लिया। यह तो थी उनकी सेवापरायणता। परन्तु उनकी दृढ़ता और निर्भीकता भी वहीं परखनेको मिलीं। आहतोंके उपचारका काम चल ही रहा था कि इतनेमें बमवर्षक विमानोंके उड़नेकी आवाज फिर सुनाई पड़ी। इस अवसरपर और लोग तो यत्र-तत्र भाग निकले, परन्तु ये देवियाँ अपने स्थानसे तिलभर भी विचलित नहीं हुईं। संकट-परिहारके निमित्त बत्तियाँभर बुझा दी गयीं। उनकी सेवाका क्रम चलता रहा। ये पुरुषोंके समान ही मोरचोंपर बन्दूकें लेकर डट सकती थीं।

यह बिलकुल नयी तरहकी सेना थी और सैनिक-शिक्षण पानेके बाद जबतक मोरचेपर जाने लायक हुई तबतक स्थिति कुछकी कुछ हो गयी। सभी मोरचोंपर मित्रराष्ट्रोंकी जीत शुरू हो गयी बर्मा-भारतीय सीमापर भी वे विजयी होते गये और परिणाम-स्वरूप नेताजीने सन् १९४५ के अप्रैल महीनेमें स्वयं 'झाँसी रानी फौज'के विघटन और पीछे हटनेका आदेश दिया।

: ११ :

बर्मी-जापानी मतभेद

राष्ट्रीय स्वतन्त्रताका इच्छुक जो बर्मी दल सैनिक-शिक्षणके लिए जापान गया था उसे जापानियोंने विश्वास दिलाया था कि अँग्रेजोंको भगानेके बाद देशकी शासन-सत्ता बर्मियोंके हवाले कर दी जायगी, परन्तु जो कुछ हुआ या हो रहा था वह बिलकुल इसके विपरीत था। शासन-सूत्र तो जापानियोंने अपने हाथोंमें रखा ही, बर्मियोंके साथ कठोर ही नहीं अपितु अमानवीय व्यवहार भी उन्होंने शुरू कर दिया। यह बर्मियोंके लिए असह्य होना स्वाभाविक था। कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी थे। बर्मियोंके चरित्रमें यह एक विशेषता है कि वे अधिकार जतानेवाला रुख नहीं बर्दाश्त कर सकते। उनके साथ यदि नरमीसे व्यवहार किया जाय तो उनसे बड़ा सेवक नहीं मिलेगा, परन्तु यदि सख्ती बरती गयी तो बर्मियोंसे बदतर दुश्मन भी शायद ही मिलें। जापानियोंका हृदय चाहे जैसा भी रहा हो, परन्तु वे व्यवहारकुशल तो नहीं थे। उनका रुख बहुत ही अवांछनीय रहता था। बर्मी यह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। इस तरह बर्मियोंमें असन्तोष बढ़ता ही गया। बर्मियोंमें सहिष्णुता और अनुभवका भी अभाव था। इसी बीच जापानियोंकी ओरसे अत्यन्त कठोर काररवाई यह हुई कि उन्होंने तखिन दलके कार्य-कर्त्ताओंको गिरफ्तार करना प्रारम्भ कर दिया। हर नगरमें तहलका मच गया। इसे बर्मी क्यों बर्दाश्त कर सकते थे? उन्होंने जापानी सत्तासे मुक्ति प्राप्त करनेकी ठान ली। तखिन तेंईफे उसी समय, सन् १९४२ में ही, गुप्त रूपसे

भारत चले गये। वे तत्कालीन बर्माकी शिमला-स्थित निर्वासित सरकारसे बातचीत करने लगे। उनके वापस आते ही बर्मामे जापान विरोधी-क्रान्तिके सर्जनकी तैयारी शुरू हो गयी। बर्माकी प्राकृतिक स्थितिने इसमे काफी सहायता पहुँचायी। यहाँके पहाड़ी क्षेत्रोंमे बसनेवाली कौमोमेसे बहुसंख्यक ईसाई हैं और उन्होने जापान-विरोधी संघर्षमे पूरे उत्साहसे भाग लिया। करेन समुदाय-का योगदान तो बेजोड़ रहा। यह काम लगभग डेढ़ वर्षतक अत्यन्त गुप्त रूपसे चालू रखा गया था और इतने दिनोमे जापानी फौजोके समानान्तर सर्व-साधनसम्पन्न छापेमार फौज अलग तैयार कर ली गयी। बर्माका टॉगू जिला राजनीतिक चेतनाके लिए मशहूर है। उस क्षेत्रमें इस क्रान्तिकी योजना बड़े पैमानेपर चालू थी। जियावडीमे भी यह संघटन काम करने लगा था। जब जापानियोके विरुद्ध छापेमार युद्धने जोर पकडा तो 'फ्यू' तहसीलका क्षेत्र बेतरह आंतकग्रस्त हो गया।

सन् १९४५ की ८ अप्रैलको भिनसारे शोर हुआ और साथ ही दो-तीन पुलिस सिपाहियोने थानेमें जाकर कहा, "एक अंग्रेज पकड़ा गया है, आई० एन० ए० के आदमियोने गिरफ्तार किया है।" सुनकर मै चौंक पड़ा। चीनी मिलके हातेके जिस बंगलेमे उन दिनो 'आई० एन० ए०' के अधिकारी रहते थे वहाँ गया तो भीड़ इकट्ठी मिली।

इस घटनासे कुछ ही दिनो पहले नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ऊपरी बर्माके मोर्चेसे रंगूनके लिए वापस होकर जाते हुए जिया-वडीमें रुके थे और 'आई० एन० ए०' के अधिकारियोको हिदायत करते गये थे कि इस क्षेत्रमे लड़ाई नही होनी चाहिए। मोर्चोपरसे घायल अथवा मलेरियासे पीड़ित हजारोकी संख्यामे आनेवाले व्यक्तियोको जियावडीमे शिविरोमें रखा गया था और गोलियाँ चलनेपर उन सबके लिए खतरा था। इसलिए आई० एन० ए० के

अधिकारी इस चिन्तामें पड़े थे कि लड़ाई भले ही न हो, किन्तु यदि गिरफ्तार अंग्रेजको छोड़ा न जायगा तो बमवर्षासे सम्पूर्ण क्षेत्र ध्वस्त हो जायगा। जियावडी ग्राण्ट और चीनी मिलके तत्कालीन प्रधान प्रबन्धक श्री रामचन्द्रप्रसादको यह चिन्ता थी कि यदि वह अंग्रेज बंदी यहाँ रखा जाता तो मित्रराष्ट्रीय बमवर्षासे चीनी मिल और सम्पूर्ण जागीर ध्वस्त कर दी जाती। यह सोचा गया कि बन्दी अंग्रेजको 'आई० एन० ए०' के बन्दीगृहमें न रखकर बर्मा-सरकारके थानेमें रखा जाय तो भारतीयों और बर्मियोंके बीच मतभेद बच सकता है, लेकिन जियावडीके थानेमे रखा नहीं जा सकता था। इसलिए 'फ्यू' थानेमे पहुँचानेका विचार किया गया। उस समय वहाँ जापानी बहुत कम थे, परन्तु जो भी थे, उनके अनजाने यह काररवाई आई० एन० ए० और मिलके अधिकारी सम्पन्न देखना चाहते थे। 'फ्यू' थाने पहुँचानेका भार लेखकको ही सौंपा गया। पता चला कि 'फ्यू'का थाना तितर-बितर हो गया था और कुछ सिपाही वहाँसे थोड़ी दूर पश्चिम पहाड़ीके पास एक कैम्प बनाकर रहने लगे थे। एक बर्मी युवकके हवाले अंग्रेज बन्दीको कर मै जियावडीके लिए लौट पड़ा।

जापानियोंके विरोधमें क्रान्तिकी जो तैयारी की गयी थी वह इतनी परिपूर्ण थी कि मोर्चेपर लड़ती हुई फौजोंसे भी अधिक घातक सिद्ध हुई। जिन पहाड़ियोंपर छापेमारोंका केन्द्र था वहाँसे 'बेतार'का सम्बन्ध भी दक्षिण-पूर्व एशियाके सैनिक हाईकमानके सदर मुकामसे था। सप्ताहमें कई बार छापेमारोंके लिए विमानसे खाद्य-पदार्थ और शस्त्रास्त्र गिराये जाते थे। राजमार्गों और जापानी सैनिक-केन्द्रोंसे खुफिया सम्बन्ध इतनी सुन्दर रीतिसे बना हुआ था कि एक-एक पत्तेकी खड़कनका समाचार छापेमार केन्द्रमें पहुंचता रहता था। इस क्रान्तिके संचालनके लिए एक संस्थाका संघटन किया गया था, जिसका नाम तब ए० एफ० पी०

एफ० एल०—एण्टीफासिस्ट पीपुल्स फ्रीडम लीग था (फासिस्ट विरोधी जनस्वातन्त्र्य लीग, और स्वतन्त्रताके बाद सरकारकी स्थापना होनेपर सत्तारूढ़ दलका भी यही नाम कायम रहा। जापानी सैनिकोंकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। भोजन-वस्त्रके लिए तरसते फिरते थे। सभी ग्रामीण बर्मी उनके कट्टर दुश्मन हो गये थे। उन भूखे-प्यासे और अर्धनग्न जापानियोंको ग्रामीण खाने अथवा पीनेके लिए कुछ दे देते और जब वे खाने लगते तो पीछेसे किसी घातक शस्त्रास्त्रसे वार करते अथवा हथगोला उनके बीचमें फेंक देते थे। इस तरह बर्मी ग्रामीण उनका प्राणान्त करते थे। यह प्रतिक्रिया थी। जापानियोंके कृत्य भी कुछ कम अमानुषिक और बर्बर नहीं थे।

उस छापेमार जीवनमें एक बात मुझे आदर्श लगी थी। नशाखोरीका नाम भी नहीं था। शराब पीना कोई भी बर्मी अधिकारी हराम नहीं समझता था। किन्तु उस समयके प्यू तहसीलके सबसे बड़े पुलिस अधिकारी तखिन ठुन ऐंइने जब छापेमार सैनिकोंका नेतृत्व ग्रहण किया था तो उन्होंने पीना बिलकुल बन्द कर दिया था। उनका कहना था कि "नशेकी झोंकमें रहस्योद्घाटन हो जानेका भय रहता है। इसलिए शराब पीना मना है।" आंग्ल-अमेरिकी फौज तो टाँगू जिलेमें २३ अप्रैलको ही प्रविष्ट हो गयी थी। मित्रराष्ट्रीय अधिकारियों द्वारा नोटोंका ढेर लगाकर होली जलानेका दृश्य अक्सर

ऊ म्या

दिखाई देता था। जापानी आधिपत्य कालमें जो लखपति बन गये थे उन्हें घड़ीभर बाद ही कौड़ी-कौड़ीके लिए मुहताज हो जाना पड़ा। मुझे गोरीला युद्धकी ऊपर उल्लिखित योजनाका ज्ञान करानेका श्रेय जियावडीके सम्मानित वयोवृद्ध मुखिया (तज्जी) ऊ म्याके लड़के मेरे अभिन्नहृदय मित्र को ठुन मॉगको रहा।

: १२ :

बामो सरकारके अन्तिम दिन

२७ मार्च, सन् १९४५ को जब तखिन तान ठुन और स्वर्गीय ऊ ऑग-सॉने गुप्त रूपसे रंगून छोड़ा, उसके २६ दिनोके पश्चात् २३ अप्रैलको डाक्टर बामो और कतिपय अन्य मन्त्रियोके परिवारोको जिनमे ऊ नू और उनका परिवार भी था, घर छोड़कर जापानियोके साथ हो लेना पड़ा था।

भयंकर बम-वर्षाके बीचसे प्राण बचाते हुए ये लोग रंगूनसे पेगू होकर मोल्मीनके रास्ते मूडान पहुँचे। वहाँ २ मास अनेक यातनाएँ सहते हुए काटे। १४ अगस्तको जब जापानियोने डाक्टर बामोको बताया कि वे दूसरे दिन आत्मसमर्पण करने जा रहे हैं, तो उसी दिन बामोने अपने सहयोगियोको इसकी सूचना दे दी। जापानी सत्ताकालमे डाक्टर बामो यद्यपि 'अधिपति'के स्थानको अलंकृत कर रहे थे, किन्तु उनका जीवनमार्ग कंटकाकीर्ण ही रहा। कभी जापानियोकी विमूढ़ता उन्हे परेशानीमें डाल देती तो कभी अन्य दुर्घटना। जापानियोका मूढ़ताविषयक केवल एक प्रमाण पर्याप्त होगा। डाक्टर बामोकी सबसे बड़ी लड़की मा तिन्सा मोका पाणिग्रहण संस्कार बो यां नाइंगसे सम्पन्न करनेका निश्चय हो गया था। आवश्यक तैयारियाँ प्रारम्भ थीं। उस शादीके अवसरपर बैठनेवालोके स्थान निश्चित किये जा रहे थे। रंगून-स्थित जापानी राजदूत और प्रधान सेनाध्यक्ष, डाक्टर बामोकी दाहिनी बगलमे बैठना चाहते थे। परन्तु अधिपति (डा० बामो) ने तय कर रखा था कि उक्त स्थानपर नेताजी श्री

सुभाषचन्द्र बोस आसीन होंगे। इसका ज्ञान होनेपर भी जापानी अधिकारियोंने व्यवस्था करनेवालोंको सीधे निर्देश देकर वहाँ अपने बैठनेका स्थान निश्चित करा लिया। अधिपतिके कानोंतक जब यह बात गयी तो आप निहायत पशोपेशमें पड़ गये और दुखी हुए। ऊ नू उस समय पर-राष्ट्रविभागीय मन्त्री थे और अधिपतिने उनसे जापानी राजदूतको समझानेके लिए कहा। ऊ नू और उनके साथ विधि-मन्त्री ऊ ठुन ऑग भी जापानी राजदूतके पास गये लेकिन उन्हें समझाना कठिन कार्य प्रतीत हुआ। उस समय ऊ नूने अत्यन्त निर्भीकताका परिचय दिया और जापानी राजदूतसे कहा कि "आप जापानके एक राजदूतमात्र हैं और नेताजी बोस स्वतन्त्र भारतकी 'आरजी सरकार'के प्रमुख! इसलिए जो स्थान नेताजीके लिए निश्चित कर रखा गया है वहाँ उन्हींको आसीन होने देना चाहिए।" जापानी राजदूतको यह बात बुरी लगी और न जाने क्या परिणाम हुआ होता, किन्तु ऊ ठुन ऑगने वातावरणको झट सँभाल लिया। आपने कहा कि "विवाहके समय कुछ मनीपुरी अतिथि भी उपस्थिति होंगे और उनपर यह प्रभाव डालना कि उनके नेता बोसको यथोचित सम्मान नहीं दिया जा रहा है, अहितकर होगा। मनीपुरियोंसे प्रमाणपत्र लिये जा सकेंगे, जो इम्फालकी लड़ाईके समय प्रचारके लिए सहायक होंगे।" वस्तुतः पाणिग्रहण संस्कार करानेके लिए माण्डलेसे दो-तीन ब्राह्मण (मनीपुरी) बुलाये गये थे और कोई मनीपुरी आमन्त्रित नहीं किया गया था।

कभी-कभी जापानी अधिकारी बामोपर अंग्रेजोंका खुफिया होनेका भी शक करते थे, जिसका कोई आधार नही था। एक बार तो एक अधिकारीने ईर्ष्यावश उनकी हत्याका भी षड्यन्त्र बना लिया था, किन्तु वह विफल रहा।

जापानी आत्म-समर्पणके कुछ काल बाद डाक्टर बामो रंगून

वापस आये। अपने सम्बन्धमें आपने बताया कि जापानके एक बुद्ध-मन्दिरमें आप कालक्षेप कर रहे थे। नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोसका समाचार पूछनेपर आपने बताया कि "सिंगापुरसे जिस विमानसे वे टोकियो जा रहे थे वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया और

ऊ नी नी

ऊ ओंग

उनका देहान्त हो गया। उनकी अस्थियाँ जापानके एक बौद्ध मन्दिरमें रखी हैं।" बामो सरकारके अन्तर्गत काम करनेवाले अधिकारियोंमें मैं फ्यू तहसीलके जज ऊ नी नी और पुलिस अधिकारी ऊ ओंगके नामोंका उल्लेख विशेष श्रद्धासे कर रहा हूँ।

: १३ :

जापानी फौजका आत्म-समर्पण

जर्मनी (हिटलर) ने १ सितम्बर सन् १९३९ को पोलैंडपर आक्रमण किया और उसके दो ही दिन बाद ३ सितम्बरको ब्रिटेन और फ्रांसने जर्मनीके विरुद्ध युद्ध-घोषणा की थी। जर्मन-शक्तिका मुकाबला पोलैंड एक मास भी नहीं कर सका। २८ सितम्बरको उसपर जर्मनीका परिपूर्ण अधिकार हो गया। सन् १९४० की ९ अप्रैलको नार्वे और डेनमार्कपर प्रहार करनेके एक ही मास बाद १० मईको जर्मनीने बेल्जियम और हालैंडके विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। हिटलरकी उस सेनाका मुकाबला, जिसकी तैयारी उसने सम्पूर्ण विश्वपर शासन करनेकी महत्त्वाकांक्षासे की थी, ये राष्ट्र अधिक समयतक नहीं कर सके और सन् १९४० की १७ जूनको फ्रांसपर हिटलरका क जा हो गया। इसके बाद एक वर्ष-तक जर्मनी और ब्रिटेनकी शक्तियोंकी टकराहट चालू रही और वस्तुतः अब ब्रिटेनके पतनकी ही बारी समझी जाती थी। किन्तु, जर्मनीने ऐतिहासिक भूल की। उसने २२ जून सन् १९४१ को रूसपर आक्रमण कर दिया। अब जर्मन-शक्ति इतनी दिशाओंमें बँट गयी कि वह मित्रराष्ट्रीय ताकतका मुकाबला करनेमें असमर्थ रही। हिटलरकी मनचाही नहीं हुई। सन् १९४४ की ६ जूनको मित्रराष्ट्रीय फौजोंने फ्रांसकी राजधानी पेरिसपर कब्जा किया और सन् १९४५ की ८ मईको बर्लिन (जर्मनी)में पहले रूसी और फिर ऑग्ल-अमेरिकी फौजे 'घुसीं'। जापान अब भी युद्धरत था। लेकिन जर्मनी और जापानी हार-जीत तो अन्योन्या-

श्रित थी। युद्ध-कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री विन्स्टन चर्चिलने अपने तात्कालिक संस्मरणोमें बताया है कि टोकियोसे भेजे गये सन्देश बर्लिन (जर्मनी) मे हर हिटलरके पास पहुँचनेके साथ ही उन्हे भी मिल जाया करते थे। श्री चर्चिलने लिखा है कि जब जापानने मित्रराष्ट्रीय शक्तियोके विरोधमे युद्ध-घोषणा की, उससे पहले उसने अपने इस मन्तव्यका सन्देश हर हिटलरको भेजा था, जो उन्हे (चर्चिलको) भी उसी समय मिल गया था। वस्तुतः ऐसे रहस्योद्‌घाटन जापान-जर्मनीके लिए कुछ कम घातक नही रहे।

बर्मामे बर्मी डिफेन्स आर्मीने सन् १९४५ की २६ मार्चको जापानियोके विरोधमे क्रांतिकी दुन्दुभी बजा दी थी और उसी समय तत्कालीन रक्षामन्त्री जेनरल आंग सॉ तथा जंगल-विभागीय मन्त्री तखिन तान ठुन रंगूनसे फरार हो गये। आंग सॉ येनाङ्गावके इलाकेमे चले गये और तान ठुन मध्य बर्माके पेगू, टॉगू और पिन्मनाके क्षेत्रोमे रहकर जापान-विरोधी क्रान्तिका संचालन करने लगे। सन् १९४५ की ५ मईको रंगून शहरमें ऑग्ल-अमेरिकी फौजोके पीछे ही पीछे ये लोग भी वापस आये। बर्मा-भारत और बर्मा-चीनकी सीमासे लेकर रंगूनतकके राजमार्गों और रेलवे लाइनोपर ऑग्ल-अमेरिकी फौजोने अधिकार कर लिया था।

जापानकी हार तो निश्चित हो चुकी थी, परन्तु वह अड़ा ही रहा। साधारण शस्त्रास्त्रोके सामने उसे न झुकते देखकर अमेरिकाने असाधारण तरीका अख्तियार किया। वह महा विनाशक शक्तिके प्रयोगपर तुल गया। उसने प्रथम अणुबम सन् १९४५ की ९ अगस्तको हिरोशिमापर गिराया और फिर दूसरा १४ अगस्तको नागासाकीपर। सम्पूर्ण जापानमे हाहाकार मच गया। निदान, १५ अगस्त सन् १९४५ को जापानने आत्म-समर्पणकी घोषणा कर दी। परन्तु बर्मामे छिटफुट विध्वंस इसके

बाद भी चलता रहा।

सम्पूर्ण बर्माके जापानी सैनिक पर्वतीय क्षेत्रोंमे चले गये थे। उनके राष्ट्रने आत्मसमर्पणकी घोषणा कर दी थी, यह बात पहले तो उनके कानोतक पहुँचनेमे देर लगी और जब उन्होंने सुना भी तो उन्हे विश्वास नही हुआ। मौका पाते ही वे या तो ऑग्ल-अमेरिकी सैनिक टुकड़ियोंपर आक्रमण कर देते थे या आमने-सामने होनेपर लड़ जाते और जबतक उनके पास कार-तूसें रहती, हथियार नही डालते थे। यह स्थिति महीनोतक चालू रही। मित्र-राष्ट्रीय बम-वर्षकतक उन्हे काबूमे लानेके लिए प्रयोगमे लाये गये। ऐसी बम-बर्षासे जहाँ-तहाँ तो गाँव-के-गाँव ध्वस्त हो जाते थे।

: १४ :

आजाद हिन्द फौज परीक्षाकी घड़ियोंमें

आजाद हिन्द फौजको जन्मकालसे ही परीक्षाकी घड़ियोंसे गुजरना पड़ा। प्रारम्भमें जापानियोंके साथ मतभेदके कारण, इसके आदि जनक कर्नल निरंजनसिंह गिल और कप्तान मोहनसिंह अज्ञात स्थानके लिए निर्वासित कर दिये गये। बीच-बीचमें भी विषमता पैदा होती ही रही।

सन् १९४५ के २६ मार्चको जब बी० डी० एफ० (बर्मा डिफेन्स फोर्स) ने जापानियोंके विरोधमें क्रान्तिकी घोषणा कर दी, उसके बादसे एक अद्भुत स्थितिका प्रादुर्भाव हो गया। आई० एन० ए० से बर्मा अपने प्रति सहयोग और समर्थनकी अपेक्षा करने लगे और जापानी तो कर ही रहे थे। इससे पूर्व आई० एन० ए० के सैनिकोंको सीमा-स्थलीय मोर्चोंपर हृदय-विदारक यातनाओं और विपदाओंका सामना करना पड़ा था, परन्तु आई० एन० ए० के वीर सैनिक हर परिस्थितिमें तपे हुए सोनेकी तरह दमकते हुए मिले और नेताजीकी नीति-पटुता हर उलझनको सुलझानेमें सफल रही। जब जापानी फौजें मोर्चेसे पीछे हटने लगीं तो आजाद हिन्द फौजका भी उसी रफ्तारसे पीछे हटना स्वाभाविक था। बर्मा-स्थित जापानी सेनाधिकारियोंने नेताजीसे सिंगापुर जानेका आग्रह किया। विशेष विमानकी व्यवस्था करनेकी भी बात कही, लेकिन नेताजी इसके लिए तैयार नहीं हुए। वे 'झाँसी रानी फौज'की बालिकाओं और देवियोंको, जिनके वे एकमात्र अभिभावक थे, छोड़कर नहीं जाना चाहते थे। निदान, अप्रैल

महीनेके अन्तमें जापानियोंने इतने परिवहनकी व्यवस्था कर दी कि वे इन्हें भी साथ लेकर रंगूनसे रवाना हो सके। नेताजी-का दल पेगू होकर मोल्मीनकी तरफ आ रहा था कि इतनेमें मित्रराष्ट्रीय फौजकी गोलाबारी सुनाई देने लगी। फलस्वरूप इन लोगोंने सवारियाँ छोड़कर पैदल चलना प्रारम्भ कर दिया। मोल्मीनतक पैदल आनेके बाद वहाँसे बंकाकतककी यात्राके लिए रेलगाड़ी मिली। इस भाँति जैसे-तैसे सन् १९४५ के जून महीनेके मध्यमें नेताजी सिंगापुर पहुँचे और वहीं स्वास्थ्य-लाभ करने लगे। लगभग दो महीने बाद १५ अगस्तको जब जापानियों ने आत्मसमर्पणकी घोषणा कर दी तो १६ अगस्तको नेताजीने विमानसे टोकियोके लिए प्रस्थान किया। कर्नल हबीबुर्रहमान आपके साथ गये। कुछ महीनोंके बाद सुननेमें आया कि सिंगापुरसे टोकियो जाते हुए विमान दुर्घटना-ग्रस्त हो गया और नेताजी इस संसारसे चल बसे।

नेताजीके साथ रंगूनसे सिंगापुर जानेवालोंमें अनेक थे। सबका नाम न तो याद है और न पूछताछ कर लिखना ही

श्री परमानन्द श्रीवास्तव

आवश्यक प्रतीत हो रहा है। उन जानेवालोंमें श्री परमानन्द श्रीवास्तव भी थे। नेताजीके साथ जानेके समय आप आजाद

हिन्द सरकारके सम्पूर्ति-विभागीय उपमन्त्री थे। श्री परमानन्दजी युद्ध प्रारम्भ होते ही जियावडी जागीर और चीनी मिलके प्रबन्धके लिए भारतसे आये थे और इस जागीर तथा मिलके माध्यमसे आजाद हिन्द फौज एवं सरकारको जो कुछ बल मिला उसके लिए सम्पूर्ण नहीं तो सर्वाधिक श्रेय उन्हे ही है।

खण्ड तीन

: १ :

निर्वासित सरकारकी वापसी

सन् १९४२ की २६ फरवरीको रंगून खाली कर देनेकी सूचना विज्ञापित करानेके आस ही पास बर्माके तात्कालिक गवर्नर सर रेजीनाल्ड डार्मन स्मिथने अपनी परिषद्‌का कार्य भी समेटकर उसे शिमला हटा दिया था। शिमला पहुँचनेपर लगभग ३ मास-तककी अस्तव्यस्तताके बाद जून महीनेमें गवर्नरने परिषद्‌के प्रमुख सचिव श्री डबल्यू० एच० पैटनको वहाँ एक छोटेसे सचिवालयकी व्यवस्था करनेका आदेश दिया। बर्मी परिषद्‌का कार्य समेटनेके साथ ही उसका झंडा भी समेट रखा गया था और उसे शिमलामें फहराकर निर्वासित बर्मा सरकारने काम करना प्रारम्भ कर दिया था।

बर्मासे विस्थापित लगभग ८ हजार सरकारी अधिकारी और ४ लाख नागरिक भारत गये थे। अधिकारियोंमें कमिश्नरसे लेकर चपरासीतक और नागरिकोंमें गगनचुम्बी महलोंमें निवास करनेवालोंसे लेकर झोपड़ियोंमें बसनेवालेतक थे। ये सभी अपने-अपने संरक्षणके लिए सरकारका मुँह देख रहे थे। श्री पैटन और उनके सहायक ऊ टिनठुटके सामने पहले तो यह कठिनाई थी कि शरणार्थियोंके आवेदनोंपर विचार करनेका मापदण्ड क्या हो सकता था, परन्तु पीछे उन्होंने बर्माकी फाइलोंको उलटना प्रारम्भ किया और उससे बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकी। युद्धोपरान्त सन् १९४५ में सरकारके पुनर्निर्माण विभागीय परामर्शदाता होकर जब ऊ टिनठुट सबसे पहले

बर्मा आये तो उन्होंने एक भाषणमें बताया था कि "बहुत-कुछ सावधानीसे काम लेते हुए भी विस्थापितों द्वारा की गयी हरजाने-की मॉगोंपर विचार करनेमें सरकार ठगी गयी थी। कुछ लोगोंने नाजायज मॉगें की थीं, जो अनजाने स्वीकार कर ली गयीं और उनका भुगतान भी करना पड़ा।" आपने कहा था कि "शिमला-की 'बर्मा-सरकार'को उस समय भारत सरकारसे अनेक प्रकारकी सहायता और मार्ग-दर्शन मिले, जिसके परिणामस्वरूप शरणार्थी नागरिकोंके लिए शिविरोंकी व्यवस्था की जा सकी तथा सरकारी अधिकारियोंको कामोंमें लगाया जा सका"। सन् ४२ के जून मासके आसपास सर रेजिनाल्ड डार्मेन स्मिथको लन्दन बुलाया गया था और वे आवश्यक निर्देश प्राप्त कर उसी वर्षके सितम्बर महीनेमें वहॉसे शिमला वापस आ गये। जैसा युद्धकालिक ब्रिटिश प्रधानमन्त्री सर विन्स्टन चर्चिल बहुधा अपने बयानमें कहा करते थे कि "हम छोटी लड़ाइयोंको महायुद्ध जीतनेके अभि-प्रायसे हारते जा रहे हैं," लन्दनकी सरकारको पूर्ण आत्मविश्वास था कि अन्ततः वह युद्धमें विजयी होगी और बर्माका पुनर्निर्माण करना होगा। इसलिए गवर्नरने शिमला वापस होनेके बाद ही एक पृथक् पुनर्निर्माण विभागका संघटन किया, जिसके प्रभारी सचिव श्री एफ० बी० आर्नोल्ड नियुक्त हुए। बर्माके कतिपय चोटीके नेता भी, जो शिमला पहुँचे थे, इस विभागकी सहायता करते थे। इनमें ऊ चौ मिन, ऊ पू और ऊ बाटिनके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

सन् १९४४ के मध्यतक पुनर्निर्माणकी योजना पूरी तरह तैयार हो जानेके बाद गवर्नरने अपनी सलाहकार-समितिका संघटन किया, क्योंकि तबतक यह निश्चित-सा हो गया था कि जापानी कुछ ही महीनोंमें बर्मा खाली कर देनेवाले थे और निर्वासित सरकारको शिमलासे रंगून वापस आकर शासनकी

पुनर्स्थापना करनी थी। इस समितिके दो बर्मी विशिष्ट सदस्य सर पा ठुन और सर ठुन ऑग भी नियुक्त हुए। सन् १९४४ के अन्तमे पुनर्निर्माण विभागका विघटन कर दिया गया और इसके ऊँचे अधिकारी विविध योजनाओको कार्यान्वित करनेके निमित्त सेक्रेटरी आव स्टेटसे निर्देश प्राप्त करने लगे।

एक तरफ पुनर्निर्माणकी योजनाओंपर विचार चल रहा था तो दूसरी ओर सर हर्बर्ट डंकलेकी अध्यक्षतामे विधि-विभागीय कार्य भी चल रहा था। चालू 'बर्मा-कोड'की छानबीन करके नया बर्मा कोड तैयार किया गया था और उसे मुद्रित भी करा लिया गया था।

वह दिन भी आ गया जिसकी प्रतीक्षामे सर रेजिनाल्ड डार्मन स्मिथ थे। जापानियोने आत्मसमर्पण कर दिया और सम्पूर्ण बर्मा-पर मित्रराष्ट्रीय फौजोका कब्जा हो गया। इसी दिनकी प्रतीक्षामें वह बर्मी तरुण-दल भी था, जिसने अंग्रेजोको भगानेमे जापानियो-का पथ-प्रदर्शन किया था और जापानियोके विरोधमे क्रान्ति करके उन्हे भी भगाया था। इस दलके नेता थे वीरपुंगव स्वर्गीय जनरल ऑग सां। इन्हे यह भान हो गया था कि ब्रिटिश सरकार लौटनेके बाद बर्माको अपना उपनिवेश बनाकार रखना चाहेगी और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलके अन्तर्गत रखते हुए औपनिवेशिक स्वराज्यसे अधिक नही देना चाहेगी। जब मित्रराष्ट्रीय फौजोने बर्मा-पर पूर्ण अधिकार कर लिया तो कतिपय अंग्रेज अधिकारियोने यह कहकर कि "मित्र-राष्ट्रीय जीत निश्चित समझनेके बाद बर्मियोने उन्हे सहायता देनी शुरू की," इनकी उक्त धारणाको और बल दे दिया। बर्मी तरुणोने फासिस्ट विरोधी जन-स्वातंत्र्य लीग (ए० एफ० पी० एफ० एल०) को और शक्तिशाली बनानेके साथ ही स्थितिको स्पष्ट करना चाहा। पहले लीगकी सुप्रीम कौसिलके केवल ९ सदस्य थे, किन्तु उसका क्षेत्र और व्यापक बनाकर

सदस्योंकी संख्या १६ कर दी गयी। तत्पश्चात् कालान्तरमें सदस्योंकी संख्या और बढ़ाकर ३६ कर दी गयी।

बर्माकी राजनीतिक स्थिति तो अनिश्चित थी ही, उस बर्मी-फौजकी स्थिति भी, जिसने जापानियोंको भगानेमें अंग्रेजोंकी सहायता की थी, अनिश्चित रही और इस अनिश्चितताको दूर करनेके लिए जनरल ऑग सॉके नेतृत्वमें एक शिष्ट-मण्डल मित्र-राष्ट्रीय फौजोंके दक्षिण-पूर्वी एशियाई सुप्रीम कमाण्डर लार्ड लुई माउण्टबेटेनसे बातचीत करनेके लिए सन् १९४५ की ४ सितम्बर-को कैण्डी (सिंहल) गया। माउण्टबेटेनसे इनकी वार्ता सफल रही और ये सन्तोषप्रद समझौतेपर पहुँच सके। वहीं इनकी मुलाकात गवर्नर सर रेजीनाल्ड डार्मन स्मिथसे भी हुई और राजनीतिक पहलुओंपर भी विचारोंका आदान-प्रदान हो सका।

कैंडीसे वापस आनेके बाद लीगकी सुप्रीम कौंसिलकी बैठक हुई और निश्चय किया गया कि गवर्नर महोदयको एक पत्र भेज कर उन्हें अपने अभिप्रायसे अवगत करा दिया जाय। इससे पूर्व लीगने एक बैठक करके प्रस्तावके रूपमें स्वीकार कर लिया था कि "लीगने फासिज्मका अन्त करनेतक युद्ध जारी रखनेका निश्चय किया है तथा इसका अभीष्ट पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना है और यह बालिग मताधिकारके आधारपर निर्मित विधानमण्डल द्वारा अपने संविधानका निर्माण चाहती है।"

गवर्नर सर रेजिनाल्ड डार्मन स्मिथ १६ अक्तूबर सन् १९४५ को रंगून आये। आपके आगमनका समाचार सम्पूर्ण देशमें फैल चुका था। 'गवर्नरके स्वागतके लिए कौन जाय', इस प्रश्नपर भी कुछ कम चख-चख नहीं चली। लीगके उच्चतम नेता स्वागतार्थ जानेके लिए राजी नहीं थे। सर रेजिनाल्ड डार्मन स्मिथके सम्मानमें एक नागरिक स्वागत-समारोहका आयोजन रंगूनके सिटी हालमें किया गया। समारोहके सामने गवर्नरने

पहले सम्राट्का सन्देश पढ़ा और उसके बाद एक संक्षिप्त भाषणमे अपने विचार प्रकट किये।

सम्राट्ने बर्मी जनताके नाम सन्देशमे कहा था, "मै बर्माकी अपनी प्रजाके प्रति स्नेहसिक्त अभिवादन और सहानुभूतिका सन्देश भेज रहा हूँ। मै जानता हूँ कि युद्धकी विभीषिकासे आप लोगोको कैसी यातनाएं पहुँची हैं और कैसे साहसके साथ आपने उन्हें झेला है। मै यह भी जानता हूँ कि आपने जापानियोके बर्बर अत्याचारोको किस प्रकार सहन किया है और आजादी देनेके उनके झूठे वायदोके किञ्चित् बहकावेमे भी आप किस तरह आ गये थे। मेरे साम्राज्यके सभी भागो और मेरे मित्र राष्ट्रोकी फौजों-ने विजयपूर्ण संघर्ष करके आपके देशको जो मुक्ति दिलायी है तथा ब्रह्मभूमिके सपूतोने भी एक साहसपूर्ण प्रहार करके इसमे जो हाथ बँटाया है उससे मै विशेष आनन्दका अनुभव कर रहा हूँ। चिर-स्मरणीय सैनिक बहादुरी और शासनके बाद अब वह समय आया है जब असैनिक शासन-व्यवस्था स्थापित की जायगी और युद्धमें जो बर्बादियाँ हुई है उनका यथासम्भव शीघ्र पुन-र्निर्माण किया जायगा। ब्रिटेनस्थित मेरी सरकारने आपके गवर्नरसे आवश्यक विचार-विमर्श किया है और वे लोग इस बातका ध्यान रखेंगे कि बर्मा ब्रिटिश राष्ट्रमंडलका एक सदस्य रहते हुए यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र परिपूर्ण रूपसे निजी सरकार-की स्थापना कर सके। जनताके प्रतिनिधियो द्वारा संविधानके निर्माणके लिए पहला कदम यह होगा कि अनुकूल स्थिति आते ही उत्तरदायी मंत्रियोकी नियुक्ति इस कार्यके लिए कर दी जाय। इस बीच काम चलानेके लिए गवर्नरकी सहायताके निमित्त एक परिषद्का संघटन किया जायगा। उक्त परिषद्के सदस्य गवर्नर द्वारा नियुक्त किये जायेंगे। गवर्नरका पहला काम एक लेजिस्लेटिव कौंसिलका निर्माण करना होगा।" पर्वतीय जातियोके निमित्त

सम्राट्ने विशेष सन्देश भेजा था, जिसमे कहा गया था कि उनके हितोकी रक्षाके निमित्त विशेष व्यवस्थाएँ की जायँगी ताकि उनकी जन-जातीय संस्थाओका भी विकास हो सके।

गवर्नर सर रेजिनाल्ड डार्मन स्मिथके निमित्त एक अभिनन्दन-पत्र पढ़ा गया था, जिसके उत्तरमे आपने कहा कि "जिस बर्माको हमने सन् १९४२ मे छोड़ा था वहाँ फिर वापस होनेपर अपार हर्ष हो रहा है। मै पुराने विचारोको लेकर नही आया हूँ बल्कि पुरानी समस्याओके समाधानके लिए नये सूत्रोसे काम लेना चाहता हूँ। जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी मै बर्माको उसी प्रकारकी आजादीका उपभोग करते देखना चाहता हूँ जैसी आजादी स्वयं ग्रेट ब्रिटेनको प्राप्त है। मै एक अनिश्चित नही बल्कि निश्चित योजना लेकर आया हूँ और वह दिन दूर नही है जब बर्मा विश्वके परिपूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रोके समकक्ष बैठ सकेगा।" बर्मी देश-भक्त सेनाके प्रति विचार प्रकट करते हुए आपने कहा कि "यह वही सेना है जिसने एक समय हमारे विरुद्ध भी युद्ध किया था, किन्तु अभी जिस प्रकार उसने मित्रराष्ट्रीय फौजोको सहायता पहुँचायी है, उसके प्रति सैनिक अधिकारी अनेक बार कृतज्ञता प्रकट कर चुके है। बर्मी स्वतन्त्रताके लिए संघर्षके दिन समाप्त हो चुके है।" जिस परिषद्का संघटन वे करने जा रहे थे, उसकी बाबत आपने कहा कि "यह एक 'आरजी परिषद्' है और कुछ ही सप्ताहों बाद ऐसी परिषद्का संघटन होगा जिसके सदस्य गैर-सरकारी और जनताके सम्मानित प्रतिनिधि होगे। मेरा इरादा है कि जापानी आक्रमणसे पहले जो कुछ अधिकार कौंसिलके मन्त्रियोका था उन सब मामलोको जनता द्वारा निर्वाचित गैर-सरकारी प्रतिनिधि पूर्ण रूपसे देखेंगे।"

इन रस्मोकी अदायगीके साथ बर्माकी निर्वासित सरकारका प्रथमदिवसीय कार्यक्रम समाप्त हुआ।

गवर्नर रेजिनाल्ड डार्मन स्मिथ अपनी परिषद्के संघटनके समय ए० एफ० पी० एफ० लीगके नेताओंको उसमें सम्मिलित करनेमे वे विफल रहे। इसके अनेक कारण थे। लीगके नेता तखिन तेइ पेसे, जो सन् १९४२ में गुप्त रूपसे बर्मासे शिमला गये थे, गवर्नरसे मतभेद हो गया था। बर्मासे जानेके समय गवर्नरने आम जनतापर आनेवाली आपदाओंके परिहारकी ओर ध्यान नहीं दिया था, यह दोषारोप तेइ पेने गवर्नरपर शिमलामें ही किया था और दोनोके बीच कुछ कटुता पैदा हो गयी थी। इधर लीगके अन्य नेता तखिन तेइ पेकी उपेक्षा करके परिषद्में सम्मिलित भी नही हो सकते थे। पुराने बर्मी नेता सर पा ठुन और उनके साथियोको गवर्नर छोड़ नहीं सकते थे और नये नेता उनकी छायामे काम करना पसन्द नही करते थे। लीगके नेताओंकी धारणा थी कि अखिल बर्माकी सर्वाधिक शक्तिशाली संस्था 'ए० एफ० पी० एफ० लीग' है और इसके प्रतिनिधित्वकी मान्यता गवर्नर द्वारा होनी चाहिये, किन्तु सर रेजिनाल्ड डार्मन स्मिथ इस तथ्यको महसूस करनेमें विफल रहे। आपने अपनी कार्यकारिणी परिषद्का संघटन किया। उसके प्रमुख सर पा ठुन और अन्य सदस्य सर ठुन आंग जो, ऊ एइ, बार ऐट ला, ऊ बा ओग और म्योचिट दलके ऊ लुन नियुक्त किये गये।

इस प्रकार लगभग वही सरकार जो युद्धकालमें निर्वासित थी, फिर शासनका काम देखने लगी। ऊ आंग सॉके नेतृत्वमे 'ए० एफ० पी० एफ० एल०'ने भी प्रतिनिधि संस्थाकी स्थितिमें संघटनका काम चालू रखा।

आंग सॉने स्वतन्त्रताका मार्ग प्रशस्त करनेके उद्देश्यसे दूसरी कार्यप्रणाली ही अपनायी। कालान्तरमें ऊ सोका देशमें पुनरागमन हुआ। आप युद्ध-पूर्वकालके अन्तिम प्रधानमन्त्री और म्योचिट दलके नेता रह चुके थे। बदली परिस्थितिसे आप अन-

भिज्ञ थे। आते ही शक्तिकी लिप्सामें राजनीतिमें कूद पड़े। आपने युद्धपूर्वकी सत्ताकी फिर माँग की, किन्तु विफल रहे। आपका इस तरह फिर राजनीतिमे प्रवेश अनेक लोगोको असह्य था। एक संध्याको गवर्नरसे बातचीत करके ऊ सो मोटरसे लौटे आ रहे थे कि किसीने आपको गोलियोका निशाना बनाना चाहा। एक गोली आपकी ऑखके पाससे होकर आर-पार हो गयी और आप कलकत्ता इलाज करानेके लिए चले गये, किन्तु सुलगती आगको हवाका एक झोका देकर गये।

बर्माकी राजनीतिक स्थिति इस प्रकार अनिश्चित होनेके कारण जनरल आंग सॉको उत्सुकता हुई और उन्हीं दिनो वे भारतके वर्तमान प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरूसे आवश्यक परामर्शके लिए दिल्ली भी गये।

: २ :

आंग सॉकी ऐतिहासिक विजय

सन् १९४५ की १६ अक्तूबरके बादसे बर्मामें द्वैधशासनकी अवस्था पैदा हो गयी थी। एक तरफ गवर्नर सर रेजिनाल्ड डार्मेन स्मिथकी रस्मी सरकार काम कर रही थी और दूसरी ओर जनरल आंग सॉकी गैररस्मी। डार्मेन स्मिथकी सरकारकी सत्ता 'कागज'-पर थी और आंग सॉकी देशवासियोंके हृदयोंमें। ३ वर्षोंके ही युद्धकालने बर्मियोंको जो राष्ट्रीय-चेतना दे दी थी वह कदाचित् तीन पीढ़ियोंमें भी न मिल पायी होती। मुट्ठीभर गद्दारोंको छोड़कर सम्पूर्ण जनवर्ग दृढ़ संकल्पके साथ 'फासिस्ट-विरोधी-जनस्वातन्त्र्य लीग' (ए० एफ० पी० एफ० एल०) के साथ था। एक भी ऐसा सरकारी विभाग नहीं बचा था, जिसमें इस दलके सदस्य न हों और जिसका सम्पूर्ण-विभागके कार्यकर्त्ताओंपर नियन्त्रण न हो। ऊ आंग सॉ और उनके सहयोगियोंने गान्धीवादी अमोघ अस्त्रका प्रयोग करना चाहा। सत्याग्रहका रास्ता अपनाया। लीगकी ओरसे देशव्यापी हड़तालकी योजना तैयार की गयी। यह एक विस्मय-जनक घटना थी कि अन्य सरकारी विभागोंके कर्मचारियोंके साथ ही पुलिस-विभागके कर्मचारियोंतकने हड़ताल कर दी। रेलगाड़ियोंका आना-जाना रुक गया। पोस्ट आफिसोंके दरवाजे बन्द दीखने लगे। कारखानोंमें सन्नाटा छा गया। पूरे देशका सारा कारबार ठप हो गया। शासनके नामपर कुछ भी नहीं रह गया। सर रेजिनाल्ड डार्मेन स्मिथको मुँहकी खानी पड़ी। उन्हें लन्दन वापस बुला लिया गया। आंग सॉ की

ऐतिहासिक विजय हुई।

सर रेजीनाल्ड डार्मन स्मिथके स्थानपर गवर्नर पदपर सर ह्यूबर्ट रेन्सकी नियुक्ति ब्रिटिश सरकारने की। सर ह्यूबर्ट ब्रिटिश सैनिक-शासनकालमे असैनिक मामलोंके प्रमुख अधिकारी थे। आप जनरल आंग साँके प्रशंसक थे और बर्मी स्थितिका आपको अच्छा ज्ञान था। आपने बिगड़ी स्थितिको सँभालने, सुधारने, और सँवारनेका रास्ता ढूंढ़ना शुरू किया। अपने पूर्वाधिकारी गवर्नरकी असफलतासे भी नसीहत लेनेका आपको मौका था। ऊ आंग सॉका बेजोड़ बर्मी नेतृत्व अब छिपा नहीं रह गया था। इसकी धाक सभी मानने लगे थे। सर ह्यूबर्ट और आंग सॉ एक-दूसरेको जानते थे, यह बात भी स्थितिपर काबू करनेमे सहायक हुई।

सर ह्यूबर्टने आते ही जनरल आंग सॉको आमन्त्रित किया और गवर्नर-परिषद्में सम्मिलित होनेको कहा। आंग सॉने सुझावका स्वागत किया और इस तरह नयी परिषद्के संघटनसे जनमत सरकारी पक्षमें आ गया। हड़तालें बन्द हो गयीं। वातावरण शान्त हो गया। संयुक्त प्रयाससे काम चलने लगा।

बर्मी राजनीतिक स्थितिके साथ ही ब्रिटेनकी सरकारकी स्थितिमें परिवर्तन हो गया था। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री सर विन्स्टन चर्चिलने युद्धमें सैनिक विजय तो प्राप्त कर ली थी, परन्तु ब्रिटेनका आर्थिक दिवाला निकल चुका था। कदाचित् यह तथ्य माना जाना चाहिये कि "किसी भी देशकी आम जनता अपनी आजादी और हार-जीतको निजी सुख-दुखसे ही सर्वाधिक तौलती है।" जिस चर्चिलके प्रधानमन्त्रित्वमे ब्रिटेनके अगणित जवानोंको मोर्चोंपर आत्माहुतिदेनी पड़ी थी और बम-वर्षासे अतुलित सम्पत्तिका नाश हुआ था, उसके पक्षमें वहाँकी आम-जनता रह जाती, यह सम्भव नही था। युद्धके बाद ही ब्रिटेनमें जो संसदीय निर्वाचन हुआ उसमें

मजदूर दलकी जीत हुई और अनुदार दल हार गया। सर चर्चिल-के स्थानपर मजदूरदलीय नेता श्री क्लीमेण्ट एटली प्रधान मन्त्री हुए। कुछ तो समयका तकाजा था और कुछ ब्रिटेनकी मजदूर सरकारकी अनुदार दलकी सरकारसे किञ्चित् भिन्न नीति, जिसके परिणामस्वरूप सन् १९४६ की २० दिसम्बरको श्री एटली-ने घोषणा की कि 'बर्माकी राजनीतिक स्थितिपर विचार करनेके लिए एक प्रतिनिधिमण्डल आमन्त्रित किया जा रहा है। उससे विचार-विनिमयके बाद यह निश्चय किया जायगा कि बर्मा ब्रिटिश राष्ट्र-मंडलके अन्तर्गत एक उपनिवेश रहेगा अथवा पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्रके रूपमे उससे बाहर।' बर्मी भ्रममें न रहे तथा विश्वके सामने भी ब्रिटिश रुखका पूर्णतया स्पष्टीकरण हो जाय, इसलिए उपर्युक्त बयानको श्री एटलीने फिर दुहराया और कहा कि प्रति-निधिकी हैसियतसे आनेवाले बर्मी नेताओंका यह काम होगा कि वे बर्माकी राजनीतिक-स्थितिको निश्चित रूप दें?

श्री एटलीके आमन्त्रणको बर्मी बहुमतने स्वीकार किया और जनरल आंग-सॉके नेतृत्वमें एक प्रतिनिधि-मंडल लन्दन गया। यह मंडल दिल्ली होता हुआ ब्रिटेन गया था, क्योंकि इससे पहले भी आंग सां भारतकी यात्रा कर आये थे और भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेसके चोटीके नेताओंसे विचारोंका आदान-प्रदान कर चुके थे। उस प्रतिनिधि-मंडलको सर्वदलीय कहा जाना चाहिये, क्योंकि 'म्योचिट' दलके नेता ऊ सो तथा 'डो बामा असियों'के अध्यक्ष तखिन बा सेइ भी उसमे सम्मिलित थे।

सन् १९४७ की ९ जनवरीको प्रतिनिधि-मंडल लन्दन पहुँचा और १८ दिनोंतक विचार-विमर्श करता रहा। लीगकी बर्माके लिए पृथक् संविधानके निर्माण आदिकी विशेष मॉंगे मंजूर की गयीं। अन्तरिम सरकारके संघटनके निमित्त दो ही महीनेके बाद अप्रैलमे आम चुनावका निश्चय करके २७ जनवरी सन्

१९४७ को लन्दनमें "आंग सॉ-एटली"के ऐतिहासिक समझौतेपर दोनोके हस्ताक्षर हुए।

तखिन बा सेइ और ऊ सोने समझौतेके सम्बन्धमे लन्दनमें ही असन्तोष व्यक्त किया था और बर्मा-स्थित राजनीतिक दलोमे भी परस्पर-विरोधी भावनाएँ काम कर रही थी। फासिस्ट-विरोधी-जन-स्वातन्त्र्य लीगके साथ काम करनेवालोमे भी एक ऐसा पक्ष तैयार हो गया था जो समझौतेसे सहमत नहीं था। उसका कहना था कि समझौता दूषित है। बर्माको जो राजनीतिक-स्तर मिलना चाहिये, उसका उसमे अभाव है।

लन्दनसे लौटनेके बाद ऊ आंग सॉने एक वृहद् जनसमूहके सामने विचार प्रकट करते हुए बताया कि जो समझौता ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री एटलीके साथ किया गया था वह देशको परिपूर्ण स्वतन्त्रता दिलानेके अभीष्टकी पूर्तिकी ओर निश्चय ही ले जानेवाला था। बहुसंख्यक जनमत ऑग सॉ और उनके दलके पक्षमें था। उन्होंने विरोधोके बावजूद समझौतेके अनुसार काम करना शुरू कर दिया।

: ३ :

राष्ट्रनायकोंकी हत्या

जनरल आंग सॉके शिष्टमंडलकी सन् १९४७ की जनवरीमें लन्दन-यात्रा और वापसीतककी स्थितिको लेखकने बर्मामे स्वयं देखा और जाना था, परन्तु उनकी और उनके ६ साथियोकी निरीह हत्याका समाचार भारतमे पढ़ा। सन् १९४७ की २० जुलाईको प्रातःकाल बनारसके कालीमहाल मुहल्लेके एक प्रतिष्ठित व्यक्ति श्री गोविन्दजीके साथ चाय पी रहा था कि इतनेमे एक युवक, जिनका नाम शायद श्री ज्ञानचन्द श्रीवास्तव था, हाथमे एक अँग्रेजीका अखबार लिये हुए आये और गोविन्दजीके सामने रखते हुए बोले, "देखिये आपके बर्माकी यह खबर है।" पत्र कदाचित् "अमृत बाजार पत्रिका" था। समाचार प्रथम पृष्ठका प्रथम तो था ही, उसपर जो चित्र दिया गया था उसमे भारत-भाग्य-विधाता पंडित जवाहरलाल नेहरू और बर्मी स्वतन्त्रताके जनक जनरल आंग-सॉ एक साथ दिखाये गये थे। श्रमदलीय ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री क्लीमेन्ट एटलीसे समझौता-वार्ता करनेके लिए लन्दन जाते हुए आंग सॉ जब दिल्ली रुके थे उस समयके किसी अवसरका पंडितजीके साथ लिया गया उनका वह चित्र था। यह हृदय-विदारक समाचार था। इससे थोड़े ही दिनो पूर्व ऊ नू लन्दनसे लौटे थे। बर्माको ब्रिटिश राष्ट्रमंडलसे बाहर रखते हुए इसे पूर्ण स्वतन्त्रता क्योकर दी जा सकती थी, इसपर विचार विनिमयके लिए आप गये थे। ऊ नूकी इस यात्राके चन्द ही दिनों पहले सन् १९४७ की १० जूनको अप्रैलमे हुए आम चुनाव

द्वारा संघटित बर्मी व्यवस्थापिका सभाका सर्वप्रथम अधिवेशन रंगूनके सचिवालय (सेक्रेटरियट) मे हुआ था। बर्मी संविधानकी भी सम्पूर्ण रूपरेखा तैयार कर ली गयी थी।

बर्मी राष्ट्रपर आनेवाली इस आपदाके लिए कौन-सी मिसाल दी जाय और किस प्रकार मर्म-वेदना प्रकट की जाय? झंझावातके झोकोंके बीच पड़े पोतके सभी माझियोंके छिन जाने जैसी घटना थी। जनरल आंग सॉके साथ जो अन्य राष्ट्र-रत्न लुट गये थे उनमेसे एकका भी निधन राष्ट्रकी अपूरणीय क्षति थी और सबका उठ जाना तो राष्ट्रपर वज्रपात ही था।

सन् १९४७ की १९ जुलाईको प्रातःकाल साढ़े दस बजेके आस-पास सशस्त्र व्यक्तियोंकी एक टोलीने सेक्रेटरियट-भवनके उस कमरेमे प्रवेश किया, जहाँ व्यवस्थापिका सभाका अधिवेशन हो रहा था। उनके हाथोंमे 'स्वचालित आयुध' थे और उन्होंने प्रवेश करते ही गोलियाँ चलाना शुरू कर दिया। सन्निकटसे तथा देखकर लिया गया निशाना खाली नहीं जा सकता था और जनरल आंग सॉ अपने साथियों—तखिन म्या, मह्‌ा बा खाईंग, ऊ बा चो, मुहम्मद अब्दुल रज़ाक, ऊ बा विन और एक अन्य व्यक्ति मांपोनके जागीरदारके साथ गोलियोंका निशाना बने। इनके साथ ही यातायात और परिवहन-विभागीय सचिव ऊ ओंग मांग, आई० सी० एस० और श्री रज़ाकके अंगरक्षक मांग ठ्वे भी अकालमृत्युको प्राप्त हुए। ऊ बा चो और मांपोनके 'सोबवा' (जागीरदार) अस्पतालमें लाये जानेके बाद मरे, किन्तु शेष गोली लगते ही मर गये। इस बर्बर कृत्यका शिकार होने-वाली राष्ट्रीय विभूतियोंका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

जनरल आंग सॉका जन्म सन् १९१६ में येनानज्ञॉऊ जिलेके नामो नामक ग्राममे हुआ था। सन् १९३८ मे रंगून विश्वविद्या-लयसे आपने बी० ए० की परीक्षा पास की। सन् १९३६ में

विश्वविद्यालयके छात्रोंने जब हड़ताल की थी तो उस समय आप छात्र-संघके जनरल सेक्रेटरी थे। बर्माके युद्ध-पूर्वके प्रमुख राजनीतिक दल 'डो बामा' पार्टीके सन् १९३९-४० में आप महामन्त्री थे। सन् १९४० में ३१ बर्मी युवकोंका जो दल सैनिक-शिक्षणके लिए गुप्त रूपसे जापान गया था उसका आपने ही नेतृत्व किया था।

जापानी सत्ताकालकी 'बामो सरकार'के आप रक्षा-मन्त्री थे। सन् १९४४ के अगस्त मासमें जापानियोंके विरोधमें 'फासिस्ट विरोधी जन-स्वातन्त्र्य-लीग' (ए० एफ० पी० एफ० एल०) की स्थापना आपके ही नेतृत्वमें की गयी थी। सन् १९४५ से ४७ तक आप उसके अध्यक्ष थे। सन् १९४५ के फरवरी महीनेसे आपने जापानियोंके विरोधमें मित्रराष्ट्रीय फौजोंको सहायता देनी प्रारम्भ कर दी थी और २७ मार्चको गुप्त रूपसे रंगूनमें जाकर येनाञ्जॉऊके इलाकेमें क्रान्तिका संचालन करने लगे थे।

युद्धके बाद प्रथम गवर्नर सर रेजि नाल्ड डार्मेन स्मिथके असफल वापस होनेपर गवर्नर ह्यूबर्ट रेन्सने जिस परिषद्का संघटन सन् १९४६ में किया उसके आप उपाध्यक्ष थे। सन् १९४७ के जनवरी महीनेमें बर्मी स्वतन्त्रताके लिए बातचीत करने आप लन्दन गये थे और वापस होनेपर अप्रैलमें आम चुनाव द्वारा जिस अन्तरिम सरकारका संघटन 'गवर्नर'के संरक्षणमें किया गया उसके भी आप उपाध्यक्ष थे। सन् १९४७ की १९ जुलाईको आपकी हत्या कर दी गयी।

ऊ आंग सॉ दृढ़ संकल्पवान् और निर्भीक वक्ता थे। आप जन्मजात नेता थे। मॉ बा खाइंग करेन नेता और अत्यन्त सुयोग्य वक्ता थे। आप सहृदय और सेवापरायण व्यक्ति थे। आपके व्यक्तित्वकी विविध विशेषताओंके कारण ही आप दोनों समुदायोंमें सम्मानित थे। करेन तो उन्हें आदर देते ही थे, बर्मी

भी इज्जत करते थे।

ऊ बाविन जनरल आंग साँके बड़े भाई थे। आप येनाझाँऊ-के एक विद्यालयमें अध्यापक थे। आप ईमानदार और दृढ़ निश्चयके व्यक्ति थे।

तखिन म्या बहुमुखी प्रतिभाके व्यक्ति थे। आप नैष्ठिक देशभक्त विद्वान् और कर्मनिष्ठ पुरुष थे। विविध विषयोंका आपने गम्भीर अनुशीलन किया था। सन् १९३६ से सन् १९४० तक आप व्यवस्थापिका सभाके एक सदस्य थे। सन् १९३८ १९३९ में आपने किसानों और मजदूरोंके दलका संघटन किया था। सन् १९४० में आप नजरबन्द किये गये थे। सन् १९४३ में आप बामो सरकारके उपप्रधान मन्त्री और अखिल बर्मा किसान संघके अध्यक्ष थे। स्वतन्त्र बर्माकी अन्तरिम सरकारके आप 'गृह' और फिर 'वित्त' तथा राजस्व मन्त्री थे।

ऊ बा चोका जन्म सन् १८९३ में हुआ था। आप विद्यालयों-के डिप्टी इन्सपेक्टर थे। सन् १९२१ में आपने उस पदसे त्याग-पत्र दे दिया। सन् १९२६ में आपने 'डीडोक' पत्रका प्रकाशन किया। उसके १ वर्ष बाद आपने बर्मा-पत्रकार-संघकी स्थापना की। सन् १९३९ में जो सद्भावना शिष्टमण्डल चीन गया था उसके आप एक सदस्य थे। सन् १९४३ में आप बामो सरकारकी 'प्रिवी कौंसिल'के एक सदस्य थे। सन् १९४६ में राज्यपालने जिस परिषद्का संघटन किया था उसके भी आप एक सदस्य थे।

ऊ बा चो सरलहृदय और साहित्यिक प्रवृत्तिके व्यक्ति थे। सूचना-विभागका काम आपके जिम्मे था। आप जनता और जनरल आंग साँके विश्वास-भाजन थे।

श्री गोविन्दजी, जिनका जिक्र अध्यायके प्रारम्भमें आया है, जियावडी चीनी मिलके सन् १९३९ तक जनरल मैनेजर थे।

राजनीतिज्ञ न होते हुए भी एक प्रतिष्ठित व्यक्तिकी हैसियतसे वे भी बर्माके अधिककांश राजनीतिज्ञोंके बारेमें जानते थे। इसलिए इस घटनासे सम्बन्धित विविध पहलुओंपर थोड़ी देरतक बात-चीत होती रही। अपना अनुमान था कि ऊ सोके सिवाय ऐसे जघन्य कृत्यपर शायद ही कोई दूसरा बर्मी नेता उतारू होता और कुछ काल पश्चात् वह अनुमान सत्य सिद्ध हुआ।

: ४ :

ऊ नू 'कँटीली डारपर'

स्वतन्त्र बर्माकी अन्तरिम सरकार राज्यपाल सर ह्यूबर्ट रेंसकी छायामें बन चुकी थी। इसका उपाध्यक्ष जनरल आंग साँको बनाया गया था। यह सरकार स्थायी रूप पानेपर राष्ट्र-मण्डलके अन्तर्गत रहेगी अथवा बाहर और उभय दशाओंमें ब्रिटेनकी सरकारके साथ इसका क्या सम्बन्ध होगा, इन्हीं कुछ बातोंपर विचार-विनिमय तथा निश्चय होना बाकी था। सरकारका निर्माण करने तथा इसे लेकर आगे चलनेमें आंग साँको जबरदस्त विरोधोंका सामना करना पड़ रहा था। डो बामा असियोंके तखिन बा सेइ, म्योचिट दलके ऊ सो अलग राग अलाप रहे थे। फासिस्ट-विरोधी जन-स्वातन्त्र-लीग (ए० एफ० पी० एफ० एल०) के नेताओंमें भी मतैक्य नहीं था। तखिन सोने 'लाल कम्युनिस्ट' और तखिन तेंइ पे तथा तखिन तान टुनने 'साधारण-कम्युनिस्ट' दलोंका संघटन कर जबरदस्त विरोधी मोर्चे तैयार कर दिये थे।

ऊ नू

आंग सॉ अप्रतिम प्रतिभावान् नेता थे और अपेक्षाकृत सर्वाधिक जनमत उनके पक्षमे था। उनके सहयोगी सच्चे और कर्मनिष्ठ देशभक्त थे। इसलिए वे बेफिक्र आगे चलते गये।

बर्मी राष्ट्रकी उस वक्त गुलाबके पौधे जैसी स्थिति थी। उसमें यदि कॉटे थे तो फूल भी। किन्तु १९ जुलाई सन् १९४७ को सेक्रेटरियट भवनमें जनरल आंग सॉ, तखिन म्या, मॉ बा खाइंग, ऊ बा विन, मुहम्मद रजाक और ऊ बा चो तथा मोपूनके सोबबा (जगीरदार) की हत्याके बाद वृक्ष और कॉटे भर रह गये। 'अब अलि रही गुलाबमे अपत कँटीली डार' की स्थिति हो गयी।

ऊ नू उस समय संविधान सभाके अध्यक्ष थे। ऊ आंग सॉने जहॉसे कार्य छोड़ा था, ऊ नूने वहीसे सँभाल लिया। 'होइहैं बहुरि बसन्त ऋतु, इन डारिन वै फूल'की आशा सँजोये अदम्य-साहस, दृढ़-निश्चय और पवित्र संकल्पोके साथ आपने 'कँटीली डारोपर डेरा डाल दिया'। बर्मी राष्ट्र, फिर वसन्तके दिन देखेगा, ऊ नूकी यह आशा सर्वथा उचित थी, क्योकि महान् विभूतियॉ तथा नेता आते-जाते रहते है, किन्तु राष्ट्र तो बना ही रहता है। शीत-वर्षा-आतप सहता हुआ वह कभी पल्लवित और पुष्पित होकर स्वयं सुरभित होता और दूसरोको भी सौरभ प्रदान करता है और कभी दुःसह एवं दयनीय दिन देखता है।

ऊ नूका जन्म सन् १९०६ मे हुआ था। आपने सन् १९२९ में 'रंगून विश्वविद्यालय'से बी० ए० की परीक्षा पास करके अध्यापन-कार्य करना प्रारम्भ किया और सन् १९३० मे 'डो-बामा-पार्टी'में सम्मिलित होकर राजनीतिक क्षेत्रमे प्रवेश किया। रंगून विश्व-विद्यालयके छात्रोने आपको अपना नेता मान रखा था और सन् १९३६ की हड़तालमे आपने उनका नेतृत्व किया। सन् १९४० में आपको ब्रिटिश सरकारने नजरबन्द किया था। डाक्टर बामोकी युद्धकालिक सरकारके आप सन् १९४३ में पर-राष्ट्रविभागीय

मन्त्री थे और सन् १९४४ मे आपने सूचना-विभाग सँभाला। जापानियोके विरुद्ध क्रान्ति करनेवाली संस्था 'फासिस्ट-विरोधी जन-स्वातन्त्र्य-लीग'का जब संघटन हुआ तो आप उसके उपाध्यक्ष हुए। सन् १९४७ की व्यवस्थापिका सभाके आप अध्यक्ष थे। ऊ आंग सॉकी मृत्युके पश्चात् सन् १९४७ के जुलाई माससे आप गवर्नरकी परिषद्के उपाध्यक्ष और ए० एफ० पी० एफ० एल० के अध्यक्ष हुए। सन् १९४८ की ४ जनवरीको जब बर्मा पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र घोषित किया गया तो आप उसके प्रथम प्रधानमन्त्री हुए। सन् १९५६ मे एक वर्षके लिए आप उक्त पदसे पृथक् रहे और जनरल नेविनको सत्ता सौंपनेतक आप प्रधान-मन्त्रिपद सँभालते रहे। छात्र-जीवनसे ही आपको नाटक और उपन्यास लिखनेका शौक है। अबतक आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। कुछ पुस्तकोंका तो बर्मीसे अंग्रेजीमें रूपान्तर भी हो चुका है।

जापानी आधिपत्य कालीन 'बामो-सरकार'के पर-राष्ट्र मन्त्री और फिर सूचना-मन्त्रीके पदोंको सँभालते हुए ऊ नूने अच्छी कार्य-पटुताका परिचय दिया था। आप बामोके अद्वितीय विश्वास-पात्र थे यह बात "बर्मा-जापानियोंके अन्तर्गत" शीर्षक लिखी आपकी किताबके स्थल-स्थलके वर्णनोंसे प्रमाणित होती है। ऊ नू मद्यपान आदि दुर्गुणोंसे बिलकुल अछूते है, यह बात भी उस पुस्तकके उन स्थलोंपर विशेष रूपसे अंकित मिलती है जहाँ बामो हँसते हुए उनपर कटाक्ष करते हैं कि "तखिन नूमें यदि कोई अच्छाई है तो बस केवल यह कि न तो ये पीते हैं और न धूम्रपान करते हैं।"

जापानियोंके उग्र मुद्रामें होनेके समय भी ऊ नू अपने मस्तिष्कका सन्तुलन नहीं खोते थे। जो राजनीतिक उतार-चढ़ाव ऊ नूने देखे और स्वयं जो अनुभव अर्जित किया था वे सब उनके कार्य सँभालनेमें सहायक सिद्ध हुए।

१९ जुलाईके हत्याकांडके सन्दिग्ध अभियुक्तोंकी ओर ख्याल दौड़ाना कठिन काम नहीं था। आंग सॉ दलके सबसे जबरदस्त विरोधी ऊ सो कुख्याति पा चुके थे। पुलिस और सैनिक टुकड़ियोंने उसी दिन शामको उनके निवास-स्थानको घेरकर उन्हें उनके ९ साथियोंके साथ गिरफ्तार कर लिया। तत्काल डाक्टर बामोपर भी सन्देह किया गया था और उन्हें भी पकड़ा गया, परन्तु निर्दोष सिद्ध होनेपर उन्हें शीघ्र ही मुक्त कर दिया गया। ऊ सो अपने साथियोंके साथ इन्सिन जेलमें रखे गये। जस्टिस ऊ चौ मिनकी अध्यक्षतामें संघटित एक विशेष अदालतमें उनके मुकदमेकी सुनवाई शुरू हुई। ऊ सोके साथी अभियुक्तोंमेंसे एक सरकारी गवाह बन गया। उसने सम्पूर्ण रहस्योद्घाटन कर दिया। उक्त गवाहके बयानका समर्थन तीन अन्य अभियुक्तोंने भी किया। मुकदमेकी सुनवाई ३७ दिनोंतक चली। सरकारी पक्षकी ७८ और अभियुक्तोंकी ओरसे सफाईकी ३१ गवाहियाँ गुजरीं। ऊ सोने लन्दनके श्री कुर्टीस बेनेट, के० सी० को अपना वकील बनाया था। सन् १९४७ की ३० दिसम्बरको मुकदमेकी सुनवाई समाप्त हुई। ऊ सो और अन्य आठको फाँसीकी सजाएँ सुनायी गयीं। जो अभियुक्त सरकारी गवाह बन चुका था उसे रिहा कर दिया गया। ऊ सोने फिर अपील की, किन्तु पहली अदालतका ही फैसला बहाल रहा। अभियुक्तोंमेंसे तीनकी ओरसे राष्ट्रपतिके पास आवेदन करके क्षमा-याचना की गयी जो अस्वीकार हो गयी। ऊ सोने अपने छोटे भाईकी मार्फत, जो लन्दनमें थे, 'प्रिवी-कौंसिल'में मामलेको ले जानेकी माँग की, किन्तु इजाजत नहीं मिली, क्योंकि तबतक बर्मा सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया था तथा यहाँके न्यायालयोंके मुकदमोंकी अपील लन्दनमें करनेका अधिकार नहीं रह गया था। ऊ सोके वकीलने रंगूनके उच्चतम

न्यायालयमें अपील करनेकी भी नोटिस दी, किन्तु सब कुछ बेकार हुआ। सन् १९४८ की ८ मई, शनिवारको ऊ सो और उनके ५ साथियोंको फाँसी दे दी गयी।

ऊ आंग सांकी हत्याके थोड़े ही दिनों पहले ऊ नू लन्दनसे वापस हुए थे। शासनसूत्र हाथमें लेनेके बाद आपने बर्मा-संविधान तैयार करनेकी ओर और अधिक ध्यान दिया। सितम्बर मास-तक उसके तैयार हो जानेके बाद आपने फिर लन्दन-यात्रा की। गवर्नरके निदशमें चलती हुई अन्तरिम बर्मा सरकारका रूप बदलना था। ब्रिटेनके साथ बर्माके उत्तमोत्तम सम्बन्ध कायम रखते हुए इसे ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डलसे बाहर सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रके रूपमें रखना था। ऊ नू ब्रिटेनकी तत्कालीन सरकारको इसके लिए सहमत कर सके और १७ अक्तूबर सन् १९४७ को "नू-एटली" समझौता सम्पन्न हो गया। बर्मा सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडलसे 'बाहर', ब्रिटेनका एक मित्र-राष्ट्र मान लिया गया। किन्तु जिन डारोंपर ऊ नूने डेरा डाला था वे कँटीली ही रहीं, यद्यपि सन् १९४८ की ४ जनवरीको बर्माकी स्वतन्त्र स्थितिकी घोषणा भी कर दी गयी।

: ५ :

करेन-क्रान्ति और अँग्रेज

शासन-सूत्र सँभालनेके बाद ही ऊ नू सरकारको जिन विद्रोहोके कारण सबसे अधिक परेशानी उठानी पड़ी, उनमे 'करेन-विद्रोह' प्रमुख था। एक वक्त तो करेन विद्रोहियोंका बर्माकी राजधानी रंगूनके निकट इन्सिनपर भी कब्जा हो गया था। करेन पहाड़ी जन-जाति है जो स्वतन्त्र करेन-राज्यकी स्थापना चाहती है। करेनोकी इस मॉगको अँग्रेज बढ़ावा देते रहे है और चालू विद्रोहके पीछे भी कतिपय अँग्रेज अफसरोका हाथ बताया जाता रहा है। सन् १९३१ के बादसे बर्माकी आबादीके ठीक-ठीक ऑकड़े नही प्राप्त होते है, किन्तु अनुमान है कि इस समय यहॉकी कुल आबादी—१ करोड़ ८० लाख होगी। सबसे बड़ा समूह बर्मी भाषा-भाषी लोगोका है, जिनकी संख्या कदाचित् १ करोड़ १२ लाख है और करेन २० लाख या इससे कुछ अधिककी संख्यामे है। इस प्रकार करेनोंकी संख्या बर्माके सम्पूर्ण निवासियोके मध्य दूसरी और यहॉकी आदिवासी अल्पसंख्यक जातियोके बीच सर्वाधिक है।

करेन पहाड़ी क्षेत्रोके निवासी है। इनके गॉव उत्तरमें श्याम-के सीमास्थल टौंजीसे लेकर दक्षिणमे मर्गुईतक सैकड़ो मीलके क्षेत्रमें यत्र-तत्र बिखरे बसे हुए है। कुछ पीढ़ियोसे ये लोग मैदानोमें भी आने लगे हैं और अब इरावदी नदीके डेल्टा तथा सितांग, साल्वीन और अन्य छोटी नदियोकी घाटियोमें भी इनकी बस्तियाँ है।

बर्मामे ईसाई धर्मावलम्बियोकी संख्या बहुत काफी है, इनमेसे आधे करेन-ईसाई है। इस देशमे ईसाई धर्मका जो प्रचार हो रहा है, उसमें करेन-समुदायके नेता अधिक है। इनमे अध्यापक, डाक्टर, प्रचारक और उपचारिकाएँ अच्छी संख्यामे है। कतिपय करेन नेताओका तो कहना है कि ईसाई-धर्मके प्रचारकार्यमे बर्माके करेन जैसा स्वावलम्बी समुदाय विश्वमे मुश्किलसे कही मिलेगा।

बर्माके तवाई क्षेत्रमे बसनेवाले 'को था ब्यू' नामक करेनने सन् १८२८ मे सबसे पहले ईसाई-धर्ममे दीक्षा ली थी। इस प्रकार करेन उसे अपना ईश्वरीय धर्मदूत मानते है। इनके बीच इस प्रचारका श्रीगणेश करनेवाले श्री जडसन थे। आप बर्मामे सन् १८१३ मे आ गये थे, किन्तु उनको वर्षोतक करेन जातिकी बाबत जानकारी नही हुई थी। रंगूनमे 'जडसन कालेज' उक्त जडसन साहबकी यादगारमे ही बनाया गया है।

बर्मी राष्ट्रपति ऊ विन मांग करेन ही है। आप जडसन कालेजके ही एक पुराने छात्र है। ऊ विन मांगके राष्ट्रपति होनेपर करेन गर्व करते है। ऊ विन मांग बौद्ध है।

करेन अँग्रेजोके बेजोड़ विश्वास-भाजन थे। जापानी-शासन कालमे बर्मियोकी जापान-विरोधी क्रान्ति कदापि उस प्रकार सफल न हुई होती यदि करेनोका सहयोग न प्राप्त हुआ होता। इस तथ्यको ऊ नू ने "बर्मा अण्डर दी जैपनीज" शीर्षकसे लिखी गयी अपनी पुस्तकके अनेक स्थलोपर स्वीकार किया है जापान-विरोधी क्रान्ति-के लिए लगभग सभी ऐसे हवाई अड्डे जहाँ खाद्य सामग्री गिरायी जाती थी अथवा छतरी बाज सैनिक मित्र-राष्ट्रोकी ओरसे उतारे जाते थे, करेन-क्षेत्रोमें ही बनाये गये थे। छतरीबाज मित्र-राष्ट्रीय सैनिक जिस आत्मीयताका बर्ताव करेनोंसे पाते थे वैसा बर्मियो-से नही। करेन उनकी दृष्टिमे स्वधर्मावलम्बी थे। जापानियोकी

हारके बाद जब अँग्रेज फिर आये, यद्यपि अधिक समय तक नही टिक सके, तो जाते-जाते करेनोको स्वतन्त्रताके लिए प्रोत्साहन देते गये। उस वक्तके ब्रिटिश प्रधानमन्त्री सर विन्सटन चर्चिल-ने कहा था कि "ब्रिटेनके बर्मा छोड़नेके बाद वहाँ राख ही राख रह जायगी।" यह भविष्यवाणी करनेके लिए चर्चिलको इसीलिए अन्तःप्रेरणा हुई थी कि उन्हे बर्मामें चालू की गयी अपनी नीति-की सफलतापर विश्वास था। जाते-जाते अँग्रेज बहुत बड़ी मात्रा-मे शस्त्रास्त्र करेनोके पास छोड़ते गये थे। क्षेत्रकी प्राकृतिक स्थिति करेनोके अनुकूल थी। पहाड़ी गुफाओमे वे शस्त्रास्त्र छिपाकर सुविधापूर्वक रख सकते थे और वही उन्होने किया।

सन् १९४९ की २६ जनवरीको करेनोने टाँगू शहरपर घेरा डाला और दूसरे दिन २७ जनवरीको उसपर कब्जा कर लिया। कदाचित् एक सप्ताह भी नही लगा कि उन्होने टाँगू जिलाके सम्पूर्ण क्षेत्रपर कब्जा कर लिया। सन् १९४७ में भारत जाकर वहाँ १ वर्ष रहनेके बाद जब लेखक बर्मा वापस आ गया था और लगभग ५ मासतक 'करेन-शासन' मे रहनेके पश्चात् ५० आद-मियोका जत्था लेकर पैदल जियावडीसे रंगून आया और फिर विमानसे दक्षिणी शान राज्यके हेहो हवाई अड्डेतक जाकर वहाँ-से टौंजी होते हुए मोटरसे टाँगू आया और ५ सौ अन्य शरणा-र्थियोके साथ उसी राहसे टौंजी-हेहो वापस गया तो उस आवा-गमन-कालमे करेनोंपर पड़ी अँग्रेजी छापका अनुभव भली प्रकार करनेका मौका मिला। रात्रिके समय जहाँ पड़ाव पड़ता था वहाँ ऐसे करेन मिलते जो टूटी-फूटी अँग्रेजी तो बोल ही लेते थे, वे पादरियोकी, जिन्हे वे 'फादर' (पिता) कहा करते है, प्रशंसा करते नही अघाते थे। वे अपनेको अँग्रेजोका प्रतिनिधि समझते थे। उनकी बातें सुनकर यह धारणा बनती थी कि "अँग्रेज बर्मियों और करेनोके बीच सर्वदा मन्थराका काम करते रहे है।" अँग्रेज करेनोको बर्मियोके विरुद्ध सदा भड़काते रहे, और जब गये तो करेनोको ऐसा छोड़ गये कि वे बर्मियोंको चैन न लेने दें।

: ६ :

करेन-राज्य

सन् १९२७-२८ मे एक गण्यमान्य करेन नेता डाक्टर सर सां सी० पोने "बर्मा ऐण्ड दी करेन्स" नामकी एक पुस्तक लिखी थी, जिसमे उन्होने करेनोके लिए एक पृथक् राज्यके निर्माणका समर्थन किया था। उन्होने यह भी निर्दिष्ट किया था कि यदि 'तनासरिम डिवीजन' इन्हे मिल जाय तो ठीक रहे। बर्मियोसे अलग रहनेकी धारणा तो करेनोमें पहलेसे काम करती ही आ रही थी और सर सां सी० पोकी पुस्तकने उसे और पुष्ट किया। वे 'अलग-राज्य' के मॉगकी पृष्ठ-भूमि तैयार करनेमे लग गये। ब्रिटिश सरकारके सामने करेन अपनी मॉग रखने ही वाले थे कि सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और ब्रिटेन उसमे उलझ गया।

सन् १९४२ के प्रारम्भमें जब ब्रिटिश सरकारने बर्मा खाली कर दिया तो करेनोको भॉति-भॉतिकी यातनाओका सामना करना पड़ा। म्यांगम्यां और प्यापोनके करेन अत्यन्त निर्दयताके साथ सताये गये, ऐसा उनका कहना है। अलग करेन राज्यकी उनकी कामना अब और बलवती हो गयी। उन्हें यह निश्चय हो गया कि जबतक उनका अलग राज्य न होगा, राजनीतिक दृष्टिसे वे सुरक्षित नहीं रह सकेंगे।

बीसवीं शतीके प्रारम्भसे ही 'करेन नेशनल असोसियेशन', नामकी एक संस्था थी, किन्तु निष्क्रियताके साथ-साथ इसमें नपुंसकत्व भी आ गया था। इसलिए करेनोने सन् १९४२

में 'करेन सेण्ट्रल आर्गेनाइजेशन'की स्थापना की। बर्मियोसे तो ये क्षुब्ध रहते थे ही, जापानियोके कठोर व्यवहारोसे और अधिक दुखी हुए। फलतः बर्मियो द्वारा शुरू की गयी जापान-विरोधी क्रान्तिमे उन्होने सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। सन् १९४५ में जापानी आत्म-समर्पणतक 'पृथक् करेन-राज्य' की माँग दबी रही और बर्मी-करेन संयुक्त शक्तिका उपयोग जापानके विरोधमे होता रहा। बर्मापर अंग्रेजी सत्ताकी पुनःस्थापना होनेपर यहाँकी अन्य जन-जातियोकी अपेक्षा करेनोंको सर्वाधिक मनोवैज्ञानिक प्रोत्साहन मिला और इन्होने अलग 'करेन-राज्य'की माँगके लिए आवाज बुलन्द की। करेनोंके तत्कालीन लब्धप्रतिष्ठ नेता सा बा ऊजीके नेतृत्वमे एक शिष्टमण्डल लन्दन भी गया, परन्तु वह विफल वापस आ गया। इस विफलतासे करेन और अधिक मर्माहत दीखने लगे और उन्होने करेन सेण्ट्रल आर्गेनाइजेशनका नाम बदलकर के० एन० यू० (करेन नेशनल यूनियन) रख दिया। इस यूनियनने स्वयं-सेवकोंका अलग दल भी स्थापित किया, जिसे के० एन० डि० ओ० (करेन नेशनल डिफेन्स आर्गे-नाइजेशन) कहा जाता है। दोनों संस्थाओने थोड़े समयमें ही कल्पनातीत शक्ति संचित कर ली। के० एन० यू० ने करेनोंमें राजनीतिक चेतनाकी लहर दौड़ा दी तो के० एन० डी० ओ० ने सैनिक संघटनको परिपूर्णता प्रदान की।

सा बा ऊजीके नेतृत्वमे के० एन० यू० और के० एन० डी० ओ० 'पृथक् करेन राज्य'की माँगके लिए जब आन्दोलन जारी किये हुए थे तो उन्हीं दिनों कुछ करेन इस पक्षमे भी थे कि बर्मियोसे अलग रहना उचित नहीं है। उन्होने एक और संस्था 'करेन यूथ लीग'की स्थापना की, जिसके अध्यक्ष वर्त्तमान बर्मी राष्ट्रपति ऊ विन मांग निर्वाचित किये गये थे। के० एन० यू० की आवाज इतनी जोरदार नहीं मालूम होती थी कि बर्मा-सरकार उस-

पर यथोचित ध्यान देती। करेनोंके दो हिस्सोमे बॅट जानेके कारण यह आवाज और धीमी लगती थी। फिर भी आवश्यक जॉचके लिए डाक्टर बा ऊकी अध्यक्षतामे एक आयोगका निर्माण किया गया। एक ओर आयोग अपना काम चालू किये हुए था और दूसरी ओर के० एन० यू० तथा के० एन० डी० ओ० अपना काम। फलस्वरूप आयोगकी रिपोर्ट पेश होनेसे पहले ही के० एन० डी० ओ० ने सशस्त्र-क्रान्ति प्रारम्भ कर दी। सन् १९४९ के जनवरी मासके अन्तमे सशस्त्र संघर्षका श्रीगणेश हो गया। के० एन० डी० ओ० की ऐसी शक्ति थी कि एक ही मासके अन्दर उन्होने टॉगूसे लेकर सम्पूर्ण मध्य बर्मापर (माण्डले-मेम्यो-तक) और उधर मिङ्गानके क्षेत्रमे भी अधिकार जमा लिया। इसके बाद अप्रैल मासके अन्तमे उन्होने टॉगू जिलासे दक्षिणकी ओर बढ़ना प्रारम्भ किया और पेगूके सन्निकटके फयाजी-फयागले स्टेशनतकके क्षेत्र उनके कब्जेमे आ गये। करेन और बर्मा सरकारकी सैनिक शक्तियोके संघर्षके इतिहासमे सबसे भीषण युद्ध न्यांगलेविनके मोर्चेपर हुआ था। दोनो पक्षोकी शक्तियॉ समान थीं। दो दिन और तीन राततक आयुधोकी बौछारे चलती रहीं और अन्ततः सरकारी फौज पीछे हट गयी। उक्त क्षेत्रपर करेनोका आधिपत्य हुआ।

करेनोके पास सीमित सामग्री थी। यदि उन्हें विदेशी सहायता मिलती भी रही हो तो लुक-छिपकर। परन्तु बर्मा सरकार विश्वमे मान्यताप्राप्त सरकार थी। वह कहींसे भी ऋण लेकर कमियोकी पूर्तिकर सकती थी और उसने वही किया। उसे सर्वाधिक सामयिक सहायता भारतसे मिली और वह क्रान्तिका दमन करनेमें धीरे-धीरे अग्रसर होने लगी। करेनोंने इंसिनतकपर, जो रंगूनसे केवल १० मील दूर है, कब्जा कर लिया था। रंगून शहर घिर गया था। इन क्षेत्रोपर फिर सरकारी अधिकार

हो गया। इसके बाद अन्य क्षेत्रोमें बर्मी फौजे प्रगति करने लगीं और ये ज्यो-ज्यों आगे बढ़ती गयी, क्रान्तिकारी पहाड़ी क्षेत्रोमें प्रवेश करने लगे, जहाँ एक बड़ी संख्यामे वे आज भी है।

सरकारी फौजोका कब्जा रेलवे लाइनो और राज-मार्गोंके किनारे हो जानेसे ही करेन क्रान्तिकी समाप्ति नही समझी जा सकती थी। पहाड़ियोमें चले जानेपर भी करेनोने अपना फौजी संघटन जारी रखा और भीतर ही भीतर आग सुलगती रही। 'बा-ऊ-कमीशन' की रिपोर्टपर भी विचार करना जरूरी था। करेन नेताओके सामने दो विकल्प रखे गये, एकके अनुसार उन्हे अपना प्रतिनिधि संसदमें भेजनेका हक था और दूसरेके अनुसार बर्मी राष्ट्रके अन्तर्गत करेन राज्य (स्टेट) की मान्यता दी जा रही थी। नेताओने 'राज्य' के सुझावको स्वीकृति दी और सन् १९५३ से अलग करेन राज्यका निर्माण कर दिया गया। पापोन इस राज्यका केन्द्रीय नगर है। इसके पास-पड़ोस-का क्षेत्र उक्त राज्यके अन्तर्गत आता है। कतिपय करेनोका कहना है कि इस क्षेत्रके पानेसे करेनोकी आकांक्षाकी अल्प तृप्ति भी नहीं हुई है। यहाँ मलेरियाका प्रकोप रहता है। एक बार एक आलोचक करेनने बातचीतके दौरानमे यहाँतक कह डाला कि "वहाँ आदमियोकी अपेक्षा बन्दर अधिक है।" यह विचार-धारा इस बातकी द्योतक है कि जो क्षेत्र राज्यके लिए पृथक् कर दिया गया है, करेन उतनेसे तुष्ट नही है।

बर्मा संघके संविधानके अनुसार कोई भी राज्य १० दस वर्षों-के बाद संघसे बिलकुल अलग अस्तित्व रख सकता है। इस समय अन्य राज्योकी भाँति 'करेन-राज्य'का भी अलग विभाग है। इसका अलग 'राज्य-प्रमुख' है और उसके सहायक मन्त्री है। शासन-व्यवस्थाके लिए एक डिप्टी कमिश्नर पापोनमें है। उसकी मातहतीमें अन्य अधिकारी तथा कर्मचारी है। आर्थिक दृष्टिसे

यह राज्य स्वतन्त्र है।

करेनोंका एक पुराना राज्य भी है। पहले इसे करेनी राज्य (स्टेट) कहा जाता था। लोयको इसका मुख्य नगर है। अब इसे 'कयाराज्य' कहते हैं।

: ७ :

बर्मी मूल संस्कृति और करेन

बर्माकी आदिवासी जातियोके मूल और उनपर पड़े हुए सांस्कृतिक प्रभावोके इतिहासके बारेमे अभीतक अधिकार-पूर्वक कुछ लिखा नहीं गया है। प्राचीन कथाओके आधारपर किसी निर्णयपर पहुँचना असम्भव है। डाक्टर आर० एल० सोनीकी पुस्तक 'दि बर्मीज एरा' (बर्मी संवत्) पर अपने विचार प्रकट करते हुए ऊ नूने एक जगह लिखा है कि—"लेखक कुछ सांस्कृतिक आधार ढूँढ़नेमे सफल हुआ है। पुस्तक पढ़नेसे यह प्रभाव पड़ता है कि देशकी ऐसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि रही है जो उज्ज्वल भविष्यके लिए प्रेरणास्रोतका कार्य कर सकती है। लेखककी तरह मेरा भी यह विश्वास है कि ऐतिहासिक तथ्योतक पहुँचनेके लिए लोककथाओ और जन-श्रुतियोका गहन अध्ययन और मन्थन आवश्यक है। मै तो यह कहूँगा कि आरम्भमें 'तह'तक न भी पहुँचा जा सके फिर भी प्रयत्न तो करना ही चाहिये।"

बर्मामे ऊ नूका व्यक्तित्व एक राष्ट्रीय नेताका ही नही है बल्कि एक साहित्यकारकी हैसियतसे भी उन्हे मान्यता प्राप्त है। आपके उपर्युक्त उल्लेखके आधारपर यही कहा जा सकता है कि बर्माकी जन-जातियोकी प्रारम्भिक स्थिति और उनपर पड़ी सांस्कृतिक छापके इतिहासकी बाबत अभी अनुसन्धानकी आवश्यकता है।

बर्मी-संवत् पुस्तकके 'दि क्वेस्ट' (खोज) शीर्षक प्रथम परिच्छेदमें ही डाक्टर सोनीने स्वयं इस प्रकार लिखा है—

"यह देखकर सचमुच ही आश्चर्य होता है कि जिस समय बर्माके दो महान् पड़ोसी राष्ट्र भारत और चीन पूर्ण विकसित अवस्थामें थे, उनके विकासकी क्रमबद्धता साफ-साफ पायी जाती है, बर्मा प्रागैतिहासिक सुषुप्तावस्थामें था। 'प्रागैतिहासिक' कहनेका सचमुच यह तात्पर्य नहीं है कि यहाँ ऐसा अन्धकार-युग था कि जिसका कोई इतिहास ही न हो। कहनेका तात्पर्य यह है कि उस युगकी स्थितिकी जानकारी नहीं प्राप्त की गयी है। यह सम्भव है कि और अनुसन्धान तथा शोध करनेपर वह समय देशके इतिहासका 'स्वर्ण-काल' समझा जाय।"

डा० सोनीके ये विचार उस प्राचीन बर्मी इतिहासके विषयमें दिये गये है जिसका कोई चिह्न नहीं मिलता। ज्ञात-इतिहास कालीन बर्मापर पड़ी सांस्कृतिक छापके सम्बन्धमें अनेक उल्लेख मिलते है, जिनमेंसे एकका ज्योंका त्यों उद्धरण किया जा रहा है।

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री एच० ई० हार्वे, आई० सी० एस०, अपनी पुस्तक 'आउट लाइन आफ बर्मीज हिस्ट्री' मे लिखते हैं—

"बर्मी यद्यपि मंगोलियन जातिसे निकले हुए हैं, किन्तु उनकी कोई भी परम्परा मंगोलोंसे नहीं मिलती-जुलती, प्रत्युत भारतसे मिलती-जुलती है। बर्मियोंके प्रारम्भिक इतिहास सम्बन्धी सामग्री पढ़नेसे मालूम होता है कि वे उत्तरभारतमें रहनेवाले और बुद्धके समगोत्रियोंके वंशज थे। उनके यहाँके पौराणिक आख्यान और परियोंकी कहानियाँ बहुलांशमें भारतीय मूलसे सम्बन्ध रखती हैं। जिस प्रकार हिन्द-चीनके शहरोंके दो नाम हैं, एक स्वदेशीय और दूसरा भारतीय तथा जैसे मध्य यूरोपमें लैटिन गिरजाघरोंने यह फैशन बना दिया था कि प्रत्येक नगरका एक नाम रोमन रखा जाय चाहे वहाँ रोमन रहे हों या नहीं, उसी तरह हिन्दुओंके आगमनके कारण बर्मी स्थानोंके संस्कृत और

पाली नाम रखनेका चलन-सा हो गया। कुछ ऐसे नाम तो निश्चित ही मूल स्थानसे आगमनके कारण पड़े। जैसे पेगूका पुराना नाम ऊसा है। यह वैसा ही नाम है जैसे उड़ीसा। उड़ीसा-से पेगूपर शासन किया गया था। बर्मियोंकी वर्तमान परम्पराएँ भारतीय है, उनकी अपनी मंगोलियन परम्पराएँ विस्मृत हो चुकी हैं। उस वर्गके लोग जो पढ़ और लिख सकते थे और जो अपनी परम्परा जीवित रख सके, वे केवल शासकवर्गके 'हिन्दू' भारतीय थे।

इस भाँति यहाँकी प्रमुख जाति 'बर्मी'के मूल और उसके संस्कारोंके इतिहासकी बाबत श्री हार्वेके इस उल्लेखको मान्यता देना सर्वथा युक्ति-संगत लगता है।

श्री हार्वेके विचारोंकी पुष्टिमें अपनी ओरसे भी दो शब्द लिख देना लेखकको अपेक्षित प्रतीत हो रहा है। भारतीय हिन्दू संस्कारों और बर्मी संस्कारोंपर जब तुलनात्मक दृष्टि डाली जाती है तो बर्मियोंके अनेक संस्कार कहीं सुलझे और कहीं विकृत रूप पाये हुए समान मिलते है।

हिन्दुओंने चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास माना है। ब्रह्मचर्याश्रमीका उपनयन संस्कार जिस प्रकार हिन्दुओंके यहाँ होता है उसी प्रकार बर्मियोंमें भी। भेद केवल दो हैं। हिन्दुओंके यहाँ यह संस्कार अधिकांशतः अब औपचारिक रह गया है, वय आदिका कोई विचार नहीं है, परन्तु बर्मी इसका ख्याल रखते है। दीनसे दीन बर्मी भी अल्पवयमें ही अपने बच्चोंका उपनयन संस्कार कर देता है। दूसरा भेद यह है कि हिन्दू ब्रह्मचारी उपनयन संस्कारके समय वहीं थोड़ा घूम लेता है और जब उसकी झोलीमें कुछ पड़ जाता है तो वापस हो जाता है, किन्तु बर्मियोंमें यह बात नहीं है। इनका ब्रह्मचारी निश्चय ही गुरु-गृह जाता और वहाँ कुछ कालतक विद्याध्ययन

करता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारीका जीवन व्यतीत करता हुआ विद्याध्ययन करके वापस आता है। कितने ऐसे भी होते हैं जो आजीवन वहीं रह जाते और गृहस्थाश्रममे वापस आते ही नहीं।

बर्मी बौद्ध मठाधीशोकी स्थिति हिन्दू पुरोहितोकी-सी है। इनका वैसा ही सम्मान है और वैसी ही जीविका। वस्त्र-भेद जरूर है। हिन्दू पुरोहित गृहस्थाश्रमी कोई भी वस्त्र धारण कर सकते है, परन्तु बौद्ध-भिक्षु केवल कषाय-वस्त्र ही। इस तरह यह भी कहना अनुचित न होगा कि हिन्दू संन्यासियो और मठाधीशो और बौद्ध-भिक्षुओ और मठाधीशोके जीवनमे भी अधिकांशतः साम्य है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, संन्यासी मठाधीश 'हिन्दू' धर्मानुयायी होते है और भिक्षु, मठाधीश बौद्ध-धर्मानुयायी, दोनो ही धर्म (हिन्दू और बौद्ध) एक ही क्षेत्र (भारत) मे पैदा हुए और पले। अतएव, इन दोनोके व्यावहारिक स्वरूपमे साम्य होना स्वाभाविक है।

बौद्धधर्म-ग्रन्थ पाली भाषामे लिखे गये है, जो भाषा ईसासे ५ सौ वर्षों पूर्व भारतकी आम बोलचालकी भाषा थी और जिस भाषामे भगवान् तथागत (बुद्ध) उपदेश करते थे। अर्चन-पूजन-विनयके स्तोत्र भी इसी भाषामे लिखे गये थे। उनका अस्तित्व अबतक यहाँ अक्षुण्ण है।

भारतीय और बर्मी सांस्कृतिक एकताके समर्थक अनेक उल्लेख अगले अध्यायोमे किये जानेवाले है इसलिए इस अध्यायमें इस प्रसंगको यहीं इति दी जा रही है। बर्माकी करेन कौमके मूल और उनपर पड़ी सांस्कृतिक छापकी बाबत जो जानकारी प्राप्त की जा सकी है उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

करेन जातिके प्रारम्भिक इतिहासके बारेमे निश्चित रूपसे दो मत चल रहे हैं। एक मतसे इन्हें भारतके शाक्य वंशसे

आया हुआ बताया जाता है और दूसरेसे इनका प्रादुर्भाव शान-चीनी आगमनसे माना जाता है। भारतीय होनेके सम्बन्धमें प्राचीन आख्यानोंका सहारा लिया जा रहा है और शान-चीन होनेका आधार विशेषतया भोगोलिक है। अमेरिकी बैप्टिस्ट बर्मा मिशनकी ओरसे 'बर्मा-न्यूज' नामक एक पत्रिका प्रकाशित होती है। इसका एक संस्करण 'करेन-विशेषांक'के नामसे निकला था, जिसमें 'करेन कौन हैं ?' शीर्षकसे एक लेख लिखा गया है। उक्त लेखका एक अनुच्छेद इस प्रकार है—

"बर्माके प्राचीन इतिहासकालमें बाहरी जातियोंके यहाँ आनेके समय शान-चीनी प्रवाहसे करेनोंका प्रादुर्भाव माना जाता है। करेनोंकी परम्परामें "रिवर्स आफ् फ्रोइङ्ग सेंड" 'बहते-बालूकी नदी'का उल्लेख मिलता है जिसे आगन्तुकोंको पार करना पड़ा था। इस नदीको उन लोगोंने बैल-गाड़ियोंपर पार किया था।"

चीनी श्यामी सीमा एक है और सीमास्थलकी आबादी अत्यधिक हो जानेके बाद इनका भीतरी बर्मामें प्रवेश करनेका प्रयत्न करना स्वाभाविक रहा होगा। चीन जैसे महान् और अत्यन्त प्राचीन संस्कृतिवाले देशका सर्वतोमुखी प्रभाव सीमास्थलीय जातियोंपर पड़ना भी सहज था। चीनी-बर्मी (श्यामी) सीमासे चलकर करेन बर्माके विविध भागोंमें बँटकर क्योंकर बसे, इस सम्बन्धकी भी अनेक घटनाओंका वर्णन उक्त विशेषांकमें मिलता है। इस प्रकार इस निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि बर्माकी मूल संस्कृतिपर, जिसे "बर्मी संस्कृति" कहा जाता है, निर्विवाद रूपसे भारतीय छाप है, परन्तु चीनी सीमास्थलके निवासियोंपर चीनी संस्कृतिका प्रभाव है और करेन जातिका मूल चीनी-शानी समुदायसे सम्बन्धित मालूम होता है।

: ८ :

शान-प्रदेश

'करेन-राज्य' और 'करेन-क्रान्ति'का उल्लेख करनेके बाद 'शान-प्रदेश'की गतिविधिका विशेष विवरण देना भी उचित मालूम देता है। विशेष रूपसे इसलिए और भी कि करेन-विद्रोहियोंने एक बार शान-प्रदेशके बहुत बड़े भागपर कब्जा कर लिया था।

बर्माके शान-प्रदेशके दो भाग हैं—उत्तरी और दक्षिणी। ऐसे तो रंगूनसे इस देशके अन्य किसी भी क्षेत्रके लिए रेल द्वारा यात्रा करते हुए मार्गमें जो दृश्य देखनेको मिलते हैं वे भारतके भिन्न भिन्न स्थानोंके अनुरूप लगते हैं। कहीं चित्रकूटका स्मरण आता है तो कहीं वृन्दावन दीखता है। परन्तु शान-राज्यमें प्रवेश करते ही 'कश्मीर-सुषमा' शीर्षकसे लिखी गयी कविवर श्रीधर पाठककी पंक्ति, "प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति"का प्रत्यक्ष रूप दिखाई देने लगता है। मार्गमें वृन्दावन तो वहाँ बसा हुआ मालूम पड़ता है, जहाँ उपवनोंके बीच अवस्थित ग्रामोंकी अल्पवयस्का ग्राम्याएँ सिरपर गागर धरे कतारकी कतार आती-जाती दिखाई देती हैं। भले हीं वहाँ यमुना-तट नहीं है, परन्तु एक पनघट तो है ही। पनघटसे पनिहारिनोंका आना-जाना कालिन्दी-तटके समान मनोमुग्धकारी दृश्य प्रस्तुत करता है। ब्रज और बर्माकी बालाओंकी साज-सज्जामें भी भेद है, परन्तु अपना तात्पर्य तो केवल यह इंगित करनेका है कि बर्मामें वृन्दावन तो है ही, ब्रजबालाओंके रूप-शील-लावण्यके पीछे कलम तोड़नेवाले भारतीय कवि भी यहाँ अपनी तृष्णा बुझा सकते हैं।

कविसम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'ने राधिकाजीके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए एक पंक्तिमे कहा है—"तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ाकलापुत्तली"।

ब्रह्मबालाओके सौन्दर्य और गुणोका निरूपण करते हुए भी एक शब्द 'तन्वंगी' (एकहरे शरीरवाली) को छोड़कर शेष सभी विशेषण ज्योके त्यो रखे जा सकते हैं। वर्मामें तन्वंगी होती ही नहीं ऐसा भय माननेकी भी आवश्यकता नही है। बर्मी कौम ही साधारणतया ठिगने कदकी है और वैसी ही यहाँकी अधिकांश बालाएँ भी होती है।

प्राकृतिक छटाके अतिरिक्त शान-प्रदेशकी अन्य अवस्थाएँ भी बर्मामे अनुपम है। शानियो जैसी ईमानदार कौम संसारके अन्य किसी भागमे है, यह अन्वेषणका विषय प्रतीत होता है। अबसे लगभग १३ सौ वर्ष पूर्व सम्राट् हर्षवर्धनके शासन-कालमे भारतकी यात्रा करनेवाले चीनी यात्री ह्वेन-सांगने (६३८ ई० में) अपने अनुभवोंका वर्णन करते हुए लिखा था कि उन दिनो लोग अपने घरोमे ताले नही लगाते थे। बर्माके शान-राज्यकी बस्तियोंमे अब भी लोग ताले बहुत कम लगाते है। कुछ वर्षों पूर्व तो वहाँके शहरोके लोग भी निर्भय रहते थे, उन्हे भी चोरी और डाकेजनीका भय नही रहता था, राहमे पड़ी सोनेकी राशि-को भी कोई नहीं छूता था। किन्तु यह बात अब केवल उन ग्रामोमे ही रह गयी है, जहाँ केवल शानी बसते है। शहरोका वातावरण किंचित् दूषित हो गया है। शानियोकी यह शिकायत भी है कि शहरियोकी कुप्रवृत्तियोका प्रभाव धीरे-धीरे ग्रामीणोंपर भी पड़ना शुरू हो गया है। जिस प्रदेशमे प्रकृतिका उन्मुक्त स्वरूप दिखाई पड़ता है, वहाँके शान्त और सुखद वातावरणका प्रभाव किसी भी पथिकपर पहुँचते ही सहज ही पड़ जाता है।

शान-प्रदेशके प्राकृतिक दृश्य तो लगभग सर्वत्र समान मन-

मोहक है, किन्तु भिन्न-भिन्न क्षेत्रोकी जलवायुमे भेद है। जहॉ जैसे वृक्षोकी प्रधानता है उसीके अनुसार वहॉकी जलवायु भी मिलती है। दक्षिणी शान-राज्यके कलौ नगरकी जलवायु सर्वोत्तम है। वहॉ चीड़के वृक्ष अधिक है। इसलिए वहॉकी जलवायु स्वास्थ्य-प्रद है। उससे केवल ६ मीलकी दूरीपर ही बसे नगर आंगबानकी जलवायुमे यह विशेषता नही है। इसी भॉति प्रति दस-दस, बीस-बीस मीलके फासलेपर जलवायुमे भिन्नता दिखाई पड़ती है।

विगत कुछ वर्षोंमे सम्पूर्ण ऊपरी बर्मा, दोनो शान-राज्यो और कछिन-प्रदेशका भ्रमण करनेके अनेक अवसर लेखकको मिले। शान-प्रदेशका 'कलौ' ऊपरी बर्माका 'मेम्यो' और रूबी-माइनका 'मोगोक' नगर सर्वाधिक शान्ति एवं स्वास्थ्य-वर्धक प्रतीत हुए। मोगोकके लिए विमान भी जाता है, परन्तु अधिक-तर मोटरसे ही यात्रा की जाती है। उत्तरी शान-राज्यके चौमे नगरसे मोगोकके लिए मोटर जाती है। चौमेसे मोगोक ७५ मीलकी दूरीपर है। पहाड़ियोकी अत्यन्त दुरूह चढ़ाइयो-उतराइयोसे होकर यह रास्ता जाता है। यात्रा अत्यन्त कष्टकर और असुविधापूर्ण है। चौमेसे मोगोक पहुॅचते-पहुॅचते पूर्ण क्लान्तताका अनुभव होने लगता है। लेकिन एक दिनके ही वहॉ आवासके पश्चात् नवस्फूर्तिका अनुभव होने लगता है और क्लान्तता काफूर हो जाती है।

ऊपरकी पंक्तियोमे शान-प्रदेश और वहॉके निवासियोंके सम्बन्धकी कुछ विशेष बातोके उल्लेखके बाद वहॉकी राजनीतिक स्थितिका संक्षिप्त विश्लेषण नीचे दिया जा रहा है। उत्तरी और दक्षिणी, दोनों शान-राज्योका संयुक्त क्षेत्रफल ५६ हजार वर्ग-मील है। जनसंख्या अनुमानतः १५ लाख है। छोटी-बड़ी कुल ३६ जागीरें दोनों प्रदेशोमें हैं। सबसे छोटी च्यो नामक जागीरका क्षेत्रफल २४ वर्ग मील है और बड़ीसे बड़ी केंगटुंगका १० हजार

वर्गमील। इन जागीरोंके स्वामीको शानभाषामें 'सोबवा' कहते हैं। सोबवा जागीरोंके निरंकुश शासक होते हैं। ये शासक छोटे जमींदारोंकी नियुक्ति कर उनके माध्यमसे व्यवस्था कायम रखते हैं।

बर्मी राष्ट्र गणराज्य होनेपर भी शान-राज्य बर्मा-संघके अन्तर्गत स्वराज्यका उपभोग करता है। यहाँके संसदीय सदस्योंका निर्वाचन करके "शान राज्य परिषद्"का गठन किया जाता है। इस परिषद्की एक उच्चतम कौंसिल होती है। इसके ५० सदस्य होते हैं। इन ५० सदस्योंमेंसे २५ का निर्वाचन वयस्क मताधिकारके आधारपर आम जनता द्वारा होता है और २५ को शान-राज्यके सोबवा स्वयं नियुक्त करते हैं। इस प्रकार यद्यपि शान-राज्यमें लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्थाका श्रीगणेश कर दिया गया है और शान-राज्यपरिषद्का निर्माण हुआ है, फिर भी 'सोबवाओं'का ही बोलबाला है।

ब्रिटिश शासन-कालमें सरकारी कमिश्नर दक्षिणी शान-राज्यके नगर टौंजीमें रहता था और उसकी सहायताके लिए एक सहायक राजनीतिक अधिकारी उत्तरी शान-राज्यके लाश्यो शहरमें रहता था। उन दिनों सम्पूर्ण शान-राज्यके केवल तीन नगरों, 'कलौ', 'टौंजी' और 'लाश्योके' क्षेत्रोंके स्वास्थ्य विभागीय कार्यों-की देख-रेख शहरी समितियाँ किया करती थीं। इन समितियोंके सदस्य कुछ सरकारी अधिकारी और सरकारकी ओरसे नियुक्त किये गये कतिपय अन्य सदस्य हुआ करते थे। इस प्रकार राज-नीतिक चेतनाके लिए कोई स्थान नहीं था। आम जनता द्वारा आन्दोलन असम्भव था। राजनीतिक जागर्तिकी विचारधाराके व्यक्ति अधिक समय शान-प्रदेशोंमें नहीं रह पाते थे। "सीमापार करनेका कानून" लागू था।

विगत विश्वमहायुद्धके समय (जापानी आधिपत्य कालमें)

वदले वातावरणसे लाभ उठाकर वहाँके युवकोंने "ईस्ट एशियाटिक यूथ लीग"की स्थापना की। उनका सर्वप्रथम कदम अनियन्त्रित शासन-व्यवस्थाके विरोधमें आन्दोलन करना था। परन्तु परिस्थितिने उनका साथ नहीं दिया और कोई खास प्रगति नहीं हो सकी। युद्ध समाप्त होनेके बाद जब सम्पूर्ण बर्मामें स्वतन्त्रताके लिए आन्दोलनकी लहर दौड़ी तो शान-प्रदेश भी इससे अछूता नहीं रहा और "शान स्टेट्स पीपुल्स फ्रीडम लीग"का जन्म हुआ। इस लीगको 'पीपुल्स वालण्टीयर आर्गेनाइजेशन'का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। इन दोनों संस्थाओंके दमनके लिए शासक-वर्गकी ओरसे सब प्रकारके साधनोंका उपयोग किया गया। किन्तु इन्होंने निरंकुशताके विरोधमें अपनी आवाज बुलन्द रखी। अन्ततः इन संस्थाओंके कार्यकर्त्ताओंको सन् १९४८ में फरार होना पड़ा। सरकारी सैनिकोंके साथ इनका सशस्त्र संघर्ष हुआ, जिसमें बहुसंख्यक कार्यकर्त्ता गोलीका निशाना बने। कुछने आत्मसमर्पण भी किया और कुछ अब भी सशस्त्र-संघर्ष चालू किये हुए हैं। सन् १९४८ से ५१ तक प्रतिक्रियावादियोंके हाथोंमें सर्वोच्च सत्ता थी, जिसके परिणामस्वरूप बौद्धिक दृष्टिसे राजनीतिक चेतना नामको भी नहीं थी।

सन् १९४८ के जनवरी मासमें जब बागी करेनोंने बगावत शुरू की तो शान-राज्यका एक बड़ा हिस्सा उनके कब्जेमें आ गया। इसके बाद ही शान क्षेत्रकी 'टॉवदू' जातिने सन् १९५० में क्रान्ति प्रारम्भ की।

टॉवदूकी क्रान्तिके कारणोंके सम्बन्धमें विविध मत हैं। किसी-किसीका कहना है कि बागी करेनोंसे बल पाकर इन्होंने क्रान्ति शुरू की। टॉवदूकी माँग प्रादेशिक स्वायत्त सत्ताके लिए है। वे करेनोंकी तरह अलग राज्यकी माँग नहीं करते। सन् १९५१ में बहुसंख्यक टॉवदुओंने सरकारको आत्मसमर्पण करके 'यूनियन'

आफ बर्मा पाओ (टॉवदू) असोसियेशनका निर्माण किया। इस संस्थाका संघटन इन लोगोंने कानूनी और वैधानिक रीतिसे किया है। टॉवदू असोसियेशनके अतिरिक्त शान-राज्योंमे तीन अन्य संस्थाएँ भी है। दो है, "शान स्टेट्स हिल पीपुल्स कांग्रेस" और "दी पीपुल्स फ्रीडम लीग"। आम लोगोंका कहना है कि यह सोब्वाओंकी जेबी संस्था है। इसके अध्यक्ष साओखुन चिओ और मन्त्री साओ खुन आंग है। ये दोनों ही सोब्वा हैं। कांग्रेसके विशिष्ट सदस्य भी या तो सोब्वा अथवा उनके आदमी है। इस संस्थाकी नीतिका स्पष्टीकरण अभी नहीं हुआ है। इससे पूर्व एक और संस्था "हिल पीपुल्स यूनाइटेड कौंसिल" नामकी थी, जिसके स्थानपर उक्त कांग्रेसका निर्माण किया गया है। कांग्रेसकी शाखाएँ भी सम्पूर्ण शान-प्रदेशमे फैली हुई है। अभीतक यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी सदस्यता सभी आदिवासियोंको प्राप्त हो सकती है अथवा इसके विधाता जिसे चाहे वही सदस्य बन सकता है।

"हिल पीपुल्स कांग्रेस"के समानान्तर दूसरी संस्था शान-प्रदेशमे "पीपुल्स फ्रीडम लीग" है। इसकी नीव सन् १९५१ में सैनिक अधिकारियों और बर्मी समाजवादी दलके नेताओंके संयुक्त प्रयाससे डाली गयी थी। लीगका मूल उद्देश्य है "शान-प्रदेशसे निरंकुशताका एकदम अन्त करना।" इसके अध्यक्ष ऊ ठुन एइ है। आप शान-राज्य स्वायत्त-शासनके एक मन्त्री भी है। यह अनुमान किया जा रहा है कि बर्मी समाजवादी दल इस लीगके माध्यमसे शान-प्रदेशमे अपना पॉव जमाना चाहता है।

तीसरी संस्था "सोशलिस्ट डेमोक्रेटिक पार्टी है।" इस संस्थाने साफ-साफ एलान कर दिया है कि यह "बर्मी सोशलिस्ट दल"-का अनुगमन करेगी। बर्मी समाजवादी नेता ऊ बा स्वे और ऊ चौ एइ इसके जन्मदाता समझे जा रहे है।

समाजवादी नेताओंने यह चेष्टा की थी कि 'पीपुल्स फ्रीडम लीग' और 'हिल पीपुल्स कांग्रेस'को एक कर दिया जाय और इस अभीष्टकी पूर्तिके लिए सन् १९५३ के नवम्बर महीनेमे एक सम्मेलनका आयोजन किया गया था, जिसमे निम्नलिखित उद्देश्योंकी घोषणा की गयी थी—

(१) शान-राज्यके निवासियोमे एकता पैदा करना। (२) शान-राज्यमें लोकतान्त्रिक शासन-व्यवस्था कायम करना। (३) पर्वतीय जातियो और स्वतन्त्र बर्माके लोगोमे एकता लाना। (४) शान-प्रदेशके निवासियोमे "राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगतिके लिए नेतृत्व प्रदान करना।"

सम्प्रति ऐसा ज्ञात हुआ है कि दोनो संस्थाओके विचारोंमे इतना भेद बढ़ गया है कि संयुक्त मोर्चाका अन्त होनेके दिन गिने जा रहे है।

शान-प्रदेशके सोबवाओंने अपने अधिकारोके त्यागनेकी घोषणा की है, परन्तु जॉच करनेपर पता चलता है कि केवल न्यायालय सम्बन्धी अधिकार उन्होने छोड़े है। शासन-व्यवस्था अब भी उन्हींके हाथमे है। शान-राज्यकी सरकार कुछ समयसे शासनके केन्द्रीयकरणकी चेष्टामे है, परन्तु इसे कब सक्रिय रूप दिया जा सकेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। सत्ता समर्पित करनेके एवजमें सोबवाओने ६ करोड़ 'च्या' (रुपये) के हरजानेकी माँग की है, परन्तु इसपर कोई निर्णय नहीं हो पाया है। बर्मा सरकार इसपर विचार कर रही है। कहा जाता है कि मन्त्रिमण्डलके कुछ सदस्य माँगपूर्ति करनेके पक्षमें है और कुछ विरोधमे। विरोधी सदस्योंका कहना है कि शान जागीरोका विलयन अपने आप होना चाहिये। फलस्वरूप, समस्यापर विशेष तौरसे विचार किया जाना अनिवार्य हो गया है। जागीरदारो (सोबवाओं)ने ६ करोड़की जो मागें की हैं उनमें उनके निमित्त २५ वर्षोंके वेतनकी

रकम है और जुआ खेलनेकी छूट देनेसे जो 'कर' उन्हे मिलता है उसकी भी २५ वर्षोंकी आय। शान-प्रदेशमे निरंकुशताका अन्त करनेके लिए जब आन्दोलन शुरू हुआ तो जुआ खेलनेकी प्रथा समाप्त करनेकी भी माँग जोरोसे शुरू हुई, क्योकि इससे आम जनताको भारी क्षति पहुँचती है। परन्तु आन्दोलन दबा दिया गया। जुआ खेलनेसे जो आमदनी होती है वह सोबवाओके जेब-खर्चके लिए जाती है। जुएमें दाँव लगानेवाले अधिकतर टॉवदू होते हैं। जुआ चालू रहनेके समय दुर्घटनाएँ भी होती है। 'हथ-गोला' फेकने अथवा सशस्त्र-आक्रमणके समाचार भी बहुधा मिलते हैं।

शान-प्रदेशका उत्तरी सीमांत अब भी आतंकग्रस्त है। दो वर्ष पूर्व तो वहाँकी स्थिति अत्यन्त विषम थी। भगोड़े चीनी सैनिकोने उपद्रव मचा रखा था। अभी बर्मा सरकारकी ओरसे सैनिक कार-रवाइयाँ होने और विश्व संयुक्त राष्ट्र संघके हस्तक्षेपके फलस्वरूप स्थितिपर बहुत-कुछ काबू कर लिया गया है। १२ हजारमेसे अब ३ हजार चीनियोका ही होना बताया जाता है।

दक्षिणी शान-राज्यके टौंजी नगरके भारतीयोने वहाँ राष्ट्रपिता महात्मा गान्धीकी पुण्यस्मृति चिरस्थायी रखनेके लिए 'गान्धी स्मारक महाविद्यालय' (हाई स्कूल) की स्थापना कर टौजी ही नही, उस प्रदेशके गौरवमे चार चाँद लगा दिये हैं। टौजीमें श्रीराम मण्डली नामक एक प्राचीन संस्था है, जिसके अन्तर्गत एक हिन्दी मिडिल स्कूल अनेक वर्षोंसे चलता आ रहा था। जब वहाँकी जनताने गान्धी स्मारक महाविद्यालयकी स्थापनाका निश्चय किया तो स्थानके अभाव आदिका प्रश्न सामने आया और फिर अधिकांशतः वही कार्यकर्ता राममण्डलीके भी थे जो गान्धी-स्मारकके निर्माणकी कामना कर रहे थे, फलस्वरूप श्रीराम मण्डलीके भवनको लगभग १ लाख और रुपयेकी लागतसे

भव्यतर बनाकर उसीमें गान्धी स्मारक महाविद्यालय चालू कर दिया गया है। इसका उद्घाटन बर्मामें वर्तमान भारतीय राजदूत महामहिम श्रीलालजी मेहरोत्रा द्वारा सन् १९५७ की ५ मईको हुआ। प्रयाग (भारत) हाईकोर्टके एक जज जस्टिस गोपालजी मेहरोत्रा भी उक्त उद्‌घाटन समारोहमें उपस्थित थे।

उत्तरी शान-प्रदेशके बाडविनकी चाँदीकी खान और लाश्योके 'शंखाई धाम'का जिक्र आवश्यक है। बाडविनकी खान संसारकी बड़ी खानोंमेंसे एक है और बर्माकी तो चाँदीकी एकमात्र खान यह है ही। बाडविन नाम्टूसे ६ मीलकी दूरीपर है। धरातलकी तहोंसे खुदाई कर कच्ची धातु नाम्टू लायी जाती है और यहाँ विविध पात्रोंमें गलाई और छनाई की जानेके बाद चाँदीके बड़े-छोटे टुकड़ोंमें ढाली जाती है। परतन्त्र बर्मामें इस खान तथा कारखानेका संचालन एक आस्ट्रेलियन कम्पनी करती थी, परन्तु अभी उसे बर्मा कार्पोरेशन लिमिटेड (बी० सी० एल०) बना दिया गया है। इसमें ५१ शेयर बर्मा सरकारके और ४९ शेयर कम्पनीके हैं।

"शंखाई-धाम" लाश्यो नगरसे १२ मीलकी दूरीपर सुरम्य पहाड़ीपर अवस्थित है। यहाँ एक पर्वतीय गुफामें अपने-आप निकला हुआ शिवलिङ्ग दीखता है। इस गुहा-मन्दिरके बगलमें ही निर्मल जलका सोता बहता रहता है मानो चित्रकूटकी स्फटिक शिलाओंपर बहनेवाली मन्दाकिनी गंगा ही यहाँ प्रवाहित हो रही हो। शिवालय और निरन्तर निर्झरित निर्मल सोतेके अतिरिक्त पास-पड़ोसका उपवन तपोभूमि जैसा प्रतीत होता है।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने अपने संस्मरणोंको प्रस्तुत करते हुए एक स्थलपर लिखा है कि "भारतकी हिन्दू जनता इतनी धर्मपरायण तो है ही कि 'चौबे' लोग यहाँ भूखे नहीं रह सकते।" उसी अनुपातसे विनम्र यह निवेदन करनेमें हिचक

नहीं हो रही है कि बर्माके हिन्दू भारतीय भले ही प्रवासी है, किन्तु वह सुसंस्कार इनमे यहॉ भी पाया जाता है। 'शंखाई'-की ओर ध्यान आकृष्ट करनेका कदाचित् सर्वाधिक श्रेय दक्षिणी शान-राज्यके यांग्ग्वे नगरके निवासी स्वर्गीय श्री बी० एन० मोहन (मास्टर मोहन) को है। उनके द्वारा इसे 'शंखाई-मंदिर'की संज्ञा मिली। लाइयोकी दानशील जनताका ध्यान आपने इस ओर आकृष्ट किया और मन्दिरके पुनरुद्धारका काम प्रारम्भ हो गया। उसकी अनेक कमियोकी पूर्ति कर दी गयी। फिर, गतवर्ष कुछ समयतक वयोवृद्ध पं० हरिवदनशर्माने वहॉ निवास किया और अपने स्थायी निवासस्थान जियावडी वापस होनेपर लेखकको लिखे गये पत्रमे जब उन्होने यह उल्लेख किया, "प्रिय श्याम, शंखाई धामसे वापस आ गया," वस्तुतः, तभी इस जनको यह ज्ञान हुआ कि शंखाईके अब सुदिन आ गये। सन् १९५८ की २ अगस्तको हिन्दू सेण्ट्रलबोर्ड, बर्माके अध्यक्ष एवं श्री रामकृष्णमिशन सोसाइटी, रंगूनके महामन्त्री पूज्य स्वामी सूर्यानन्दसे इस जनकी भेंट हुई तो आपने बताया कि शंखाईके निमित्त उक्त बोर्डने भी ३ हजार रुपयेका दान मंजूर किया है।

: ९ :

कछिन-राज्य

बर्माके कछिन-राज्यकी राजनीतिक व्यवस्था वैसी ही है जैसी शान-राज्यकी। यहाँके शासकोंको "डुआ" कहते हैं। "डुआ" का शाब्दिक अर्थ है जमींदार। ये डुआ निरंकुश शासक रहते आये थे, किन्तु जबसे बर्मामें लोकतन्त्रकी स्थापना हुई, इस राज्यके विभिन्न क्षेत्रोंमें भी संसदीय-सदस्योंका निर्वाचन बालिग मताधिकारके नियमानुसार होने लगा और कछिन-राज्यकी शासक-परिषद् तथा उच्चतम कौंसिलका निर्माण किया गया। जनता द्वारा निर्वाचित सदस्योंसे कौंसिलका संघटन किया जाता है और फिर कौंसिलके सदस्य परिषद्के अध्यक्षका चुनाव करते हैं।

कछिन-राज्यमें दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्थाएँ हैं। एकको "पेक्डो" (पीपुल्स एजुकेशनल कल्चरल डेमोक्रेटिक आर्गेनाइ-जेशन) और दूसरी को के० एन० सी० (कछिन नेशनल कांग्रेस) कहते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक संस्थाएँ भी हैं, परन्तु वे ऐसा महत्त्व नहीं रखतीं कि उनके कार्यकलापोंके विशद वर्णनमें जाया जाय।

"पेक्डो" के सर्वश्रेष्ठ नेता सामा डुआ सिन्नानांग हैं। आप अपने राष्ट्रप्रेम, दृढ़ निश्चय और जीवनकी सादगीके लिए सुवि-ख्यात हैं। आप इतने लोकप्रिय हैं कि बिना कोई नाम बताये केवल "डुआजी" कहा जाय तो इसका तात्पर्य यही माना जायगा कि सामा डुआ सिन्नानांगको ही सम्बोधित अथवा स्मरण

किया जा रहा है। सौभाग्यवश लेखकको इनके सन्निकट आनेका अवसर मिला है और उनके निराभिमानी सरल जीवनसे तो वह अत्यन्त प्रभावित है। देखते ही आत्मीयता प्रकट करना और वार्ताके समय शिष्टाचारपूर्वक "अकोजी" (बड़े भाई) कहकर दूसरेको सम्बोधित करना आदि गुण "डुआजी"में हैं।

विगत विश्वयुद्धके पश्चात् जब अँग्रेजोंको यह अनुमान होने लगा था कि उन्हें बर्मासे साम्राज्यशाही सत्ता समेट लेनेके लिए विवश होना पड़ेगा तो उन्होंने कछिन-राज्यको बर्मासे पृथक् रखनेका 'स्वांग' शुरू किया। उन्होंने यह भी चाहा कि इस राज्यके नेता इस योजनासे सहमत हो जायँ, परन्तु उनकी चाल सफल नहीं हो सकी। सन् १९४७ की १२ अप्रैलको होनेवाले सीमा-सम्मेलनमें "डुआजी"ने दहाड़के साथ कहा कि "हम बर्मा संघकी एकता भंग नहीं होने देंगे। 'कछिन-राज्य' संघके अन्तर्गत ही रहेगा।" "डुआजी"ने

डुआ सिन्नानांग

अँग्रेजी दुर्नीतिका पर्दाफाश किया और उनकी एक नहीं चलने दी। भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री ऊ नू डुआजीका सदैव सम्मान करते रहे हैं।

कछिन-राज्यकी दूसरी राजनीतिक संस्था के० एन० सी० के नेता डुआ जा लोन हैं। गणतन्त्र बर्माकी कछिन-राज्य परिषद्के प्रथम अध्यक्ष सामा डुआ सिन्नानांग थे और उनके पश्चात् डुआ

ज़ा लोनने ही उक्त पद सँभाला था।

कछिन जातिके लोग सीधे और सरल होते है। इनमें ईसाई धर्मावलम्बी काफी है, पर बहुसंख्यक बौद्ध मतावलम्बी है। किसी भी धर्मको न माननेवाले भी कुछ है।

कछिन-राज्यका एक बड़ा हिस्सा बर्मा-चीनी सीमा बनाता है और उभय देशोके बीच सीमा-समझौता न होनेके कारण इस राज्यकी राजनीतिक स्थिति अपेक्षाकृत अधिक शोचनीय बनी हुई है। एक-न-एक उलझन पैदा होती ही रहती है। सन् १९५७ के एक समाचारमें बताया गया था कि कछिन-राज्यके दो गावो "पीमो" और "गालोन"को चीन सरकारको देकर बर्मा सरकार सीमा-निर्धारणकी समस्या हल करना चाहती है, जिसके परिणाम-स्वरूप वहाँके एक बड़े जन-समूहने सरकार-विरोधी आन्दोलन शुरू कर दिया था।

"पेक्डो" और "के० एन० सी०" दो परस्पर प्रतिद्वन्दी संस्थाओकी होड़ तो निरन्तर चालू रहती है, जिससे कछिन-राज्यकी जनता दो गुटोमे विभक्त थी। बर्माकी सत्तारूढ़ संस्था "फसपल" के नेताओमे फूट होनेके कुप्रभावसे यह गुटबन्दी और मजबूत बन गयी है और स्थिति बदसे बदतर होने लगी है।

विगत विश्व-युद्धसे पूर्व कछिन-राज्यके सामॉव नामक स्थानमे एक साधारण चीनी मिल थी, जिसका अस्तित्व तो अब नही रह गया है, परन्तु उससे थोड़ी ही दूरीपर नाम्टी नामक स्थानमे एक बड़ी चीनी मिल बैठा दी गयी है। इसके अतिरिक्त कछिन-राज्यमे बड़े उद्योगो और कारखानोका अभाव है। यहाँका अधिक भू-भाग बंजर है। फलस्वरूप व्यापारी वर्गके लोगोको छोड़कर बहुसंख्यक आम जनता दीनावस्थामें देखी जाती है। इस स्थलपर निजी अनुभवके एक प्रसंगका उल्लेख अनुचित न होगा। अबसे दो वर्षो पहले जब लेखकने कछिन-

राज्यकी यात्रा की थी और वहाँके मुख्य नगर मचीनाके एक धनी भारतीयका वह अतिथि रहा था तो उसने आतिथेयके कम्पाउण्ड-मे कतिपय तरुण छात्रोको अवकाशके दिनोमे मजदूरीका काम करते हुए देखकर जब यह पूछा कि "ये छात्र है, फिर भी मजदूरी-का काम क्यो कर रहे है ?" तो, उन्होने बताया कि "ये इतने दीन घरोके है कि अवकाश-कालमे मजदूरी करके जो पैसा पाते हैं उसीसे पठन-पाठनके निमित्त पुस्तक आदि खरीदते है।" आपने यह भी कहा कि कछिन-राज्यके विद्यालयोमे अध्ययन करनेवाले ऐसे बहुसंख्यक छात्र है।

कछिन कौम बड़ी ही लड़ाकू और स्वामिभक्त मानी गयी है। ब्रिटिश सत्ताकालमे तो "कछिन रेजीमेण्ट" थी ही, गणतन्त्र बर्मा-मे भी यह पूर्ववत् कायम है। इसपर सरकारको पूरा भरोसा रहता है। गृहयुद्ध-कालमे क्रान्तिकारियोका दमन करनेमे उक्त रेजीमेण्टको अपेक्षाकृत सर्वाधिक श्रेय दिया जा सकता है।

मचीनाके अतिरिक्त, मोगॉव, मोइयन, कथा, भामो और सिन्लुन विशेष नगर है। इन नगरोमे वहाँके आदि-वासियोके अतिरिक्त भारतीय और नेपाली भी काफी बड़ी संख्यामे है। जिस प्रकार मचीना नगरमे पहुँचनेपर ऐसा प्रतीत होता है मानों भारतीयो और नेपालियोकी मिश्रित आबादीकी बस्तीमे पहुँच गये है वैसा ही भाव इन नगरोमे पहुँचनेपर भी पैदा होने लगता है। इन सभी नगरोमे सरकारी विद्यालय है, परन्तु भारतीय बच्चोकी शिक्षाके लिए मचीनाको छोड़ अन्यत्र पृथक् विद्यालयकी सुव्यवस्था नही है। सभी नगरोमे हिन्दू मन्दिर है।

कछिन-राज्यकी यात्राके लिए रंगूनसे सप्ताहमे एक दिन विमान जाता है। रेल द्वारा यातायात भी होता है। पानीका जहाज भी जाता है। यह जहाज केवल कथा और भामो-तक जाता है। उसके बाद जहाज चलाना सम्भव नही।

इरावदीकी धारा अति तीव्र होनेके साथ ही चट्टानोंसे टकरानेका भी भय रहता है। कछिन-राज्य जानेके निमित्त मोटरका मार्ग भी है। यह मांडलेसे लाश्यो, कुटखाई, मूसे, नामखाम और भामो होता हुआ जाता है। दृश्य-निरीक्षण और अनुभव अर्जनके लालचसे इन पंक्तियोंके लेखकने एक बार मोटर-मार्गसे ही मांडलेसे मचीनातक सफर किया था। यह यात्रा करनेसे कुछ ही काल पहले उपद्रवी भगोड़े चीनी सैनिकोंका मूसे नगरपर कब्जा रह चुका था और यह घटना भी उस राहसे जानेके कारणोंमे एक कारण थी। कुछ ऐसी अन्तःप्रेरणा हुई कि यदि सम्भव है तो क्यों न उक्त मार्गसे जाकर यह जाना जाय कि उपद्रवियोंके अधिकार-कालमें वहाँके निवासियोंकी क्या अवस्था थी। मूसेके निवासियोंसे यह मालूम हुआ कि चीनी सैनिकोंके व्यवहार तो बर्बर थे ही, वे अमेरिकी आधुनिक आयुधोंसे भी लैस थे। मार्ग मनमोहक पर्वतीय दृश्योंके मध्यसे होकर तो गुजरता ही है, जिन-जिन नगरोंमें रुकनेका अवसर मिला था वहाँके निवासियोंकी आत्मीयता परम श्लाघनीय थी। इसी यात्राके सिलसिलेमें नामखाम स्थित स्वर्गीय डाक्टर सीग्रेवका अस्पताल देखनेका अवसर भी सुलभ हुआ था। अस्पतालके भवनको देखकर बरबस काशीकी स्मृति जाग्रत् हो उठी थी। बर्मामें यही एक ऐसा भवन, कमसे कम लेखकको, देखनेको मिला जिसकी तुलना काशीमें शिलाखण्डोंसे निर्मित भवनोंसे की जा सकती है।

डाक्टर सीग्रेवका सेवाकार्य भी कुछ कम प्रशंसनीय नहीं दीखा। आपके अस्पतालमें मुफ्त इलाज होता है और ऐसे मरीज अस्पतालमें आते है जो अन्यत्रसे निराश हो जाते हैं। सीग्रेव ईसाई धर्मावलम्बी एक अमेरिकी डाक्टर थे और यह राह अपनाकर आप अपने धर्म और मानवता, दोनोंकी सेवामें जीवान्त रत

रहे । आपके पश्चात् भी आपके अनुयायियोंने अस्पतालका काम चालू कर रखा है। नामखामसे चलकर कछिन-राज्यके दूसरे दर्जेके महत्त्वपूर्ण नगर भामो और फिर प्रधान नगर मचीना पहुँचनेपर तो, जैसा ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ, ऐसा लगने लगा मानो किसी भारतीय अथवा नेपाली उपनिवेशमे ही पहुँच गया हूँ ।

: १० :

ने विन सरकार

सन् १९४७ की १९ जुलाईको जनरल आंग साँ और उनके साथियोंकी हत्याके पश्चात् ऊ नूने "होइहैं बहुरि बसन्त ऋतु इन डारिन वे फूल" की जिस आशासे बर्मी राष्ट्र-की शासन-सत्ता सँभाली थी वह दुराशाके रूपमें परिणत होती गयी। गृह-कलह चालू ही रहा। सम्पूर्ण देशमें पूर्ण शान्ति किसी समय भी स्थापित नहीं हो सकी। यह कलह कभी उग्र रूप ले लेता तो कभी मन्द पड़ जाता था। करेन-विद्रोहके पीछे तो पश्चिमी राष्ट्रोंका हाथ था और पी० बी० ओ० के विद्रोहके मूलमें अवसर-वादिता थी, परन्तु वाम-पक्षियों (कम्युनिस्टों) का मतभेद सैद्धान्तिक था। ये मार्क्सवादी सिद्धान्तोंके अनुगामी और राष्ट्रको इसी साँचेमें ढालनेके व्रती दीखते हैं।

जनरल ने विन

जनरल आंग सॉने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री क्लीमेन्ट एटलीके साथ बर्मी स्वतन्त्रता सम्बन्धी जो समझौता किया था उसमे ब्रिटेनके साथ बर्माका सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध कायम रहनेकी गन्धतक वामपक्षीय नेताओको पसन्द नही थी। उन्होने उसी समयसे आंग सॉ-विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि सन् १९४२ में जापानियोके विरोधमे क्रान्ति करनेके लिए जब "फसपल" का संघटन किया गया था तो सभी नेता एक साथ थे, परन्तु युद्धके बाद ही मार्क्सवादी विचारधारावाले अलग हो गये और उन्होने "फसपल"से पृथक् कम्युनिस्ट पार्टीका संघटन कर लिया। आंग सॉके नेतृत्वमे स्वतन्त्र बर्माकी अन्तरिम सरकारका निर्माण करनेके लिए सन् १९४८ के अप्रैल मासमे जब देशव्यापी आम निर्वाचन हुआ तो इस दलने "फसपल" के विरुद्ध चुनाव भी लड़ा था।

फिर ऊ नू और श्री एटलीके बीच जो समझौता हुआ तथा जिसके अनुसार सन् १९४८ मे ४ जनवरीको बर्मा ब्रिटिश राष्ट्रमंडलके बाहर सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्र घोषित किया गया, उससे वामपक्षीय दल और अधिक क्षुब्ध हो गया। इससे दो ही मास बाद मध्य बर्माके एक नगर पिन्मनामे इस दलने एक सम्मेलनका आयोजन किया, जिसमे समझौता विरोधी प्रस्ताव स्वीकार किये गये और कम्युनिस्ट नेता तखिन तानठुन तथा उनके साथियोने खुल्लम-खुल्ला ऊ नू और उनके साथियोकी कटु आलोचनाएँ करके "नू-सरकार"के विरोधमे आन्दोलन शुरू कर दिया। इस आन्दोलनका प्रारम्भिक रूप तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन जैसा प्रतीत हुआ, परन्तु आगे चलकर इसने उस सशस्त्र सैनिक क्रान्तिका रूप ले लिया जो अबतक न पूर्ण रूपसे दबायी जा सकी और न तो उभयपक्षोके बीच समझौता करके ही इसका अन्त किया जा सका।

वामपक्षीय दल सविनय अवज्ञा आन्दोलन चालू रखनेके समयसे ही सशस्त्र सैनिक क्रान्तिकी भी तैयारियाँ करता आ रहा था और इसके लिए उसके पास सभी साधन मौजूद थे। युद्ध-कालमें जापान-विरोधी क्रान्तिका सर्जन करने अथवा उसे सक्रिय रूप देनेमें वामपक्षीय दलके बहुसंख्यक नेता एवं कार्यकर्ताओंका योग था। और उस क्रान्तिके दिन बीत जाने तथा अंग्रेजोंका पुनरागमन होते ही एक ओर तो ब्रिटिश गवर्नर और बर्मी नेताओंमें मतभेद प्रारम्भ हो गया था तो दूसरी ओर क्रान्ति-कारियोंमें भी परस्पर भेदभाव पैदा हो गया। परिणामस्वरूप वामपक्षीय विचारधाराके बर्मी नेताओंमें विरोध-भावना तभीसे निरन्तर काम करती ही आ रही थी और ये उसकी तैयारियाँ भी करते आ रहे थे। पिन्सना महासभाके बाद इधर "नू-सरकार" ने वामपक्षियोंकी धर पकड़ शुरू कर दी और उधर वे अन्तर्धान होने लगे। सरकारकी ओरसे "बर्मी-साम्यवादी-दल," अवैधानिक घोषित कर दिया गया और साम्यवादियोंके पास जो हथियार थे उनसे उन्होंने पुलिस और सैनिक टुकड़ियोंका मुका-बला करते हुए नगरों, गाँवों और सरकारी शस्त्रागारों तथा खजानोंको लूटना प्रारम्भ कर दिया। उनका यह क्रम आज भी जारी है। वे क्षीण बल अवश्य हो गये हैं, परन्तु उनके और सरकारके बीच मतभेद अभी भी बना हुआ है। बीच-बीचमें "नू-सरकार" ने क्षमा-दानकी घोषणाएँ और व्यवस्थाएँ भी की थीं, जिसके फल-स्वरूप पी० बी० ओ० के फरार सदस्योंने प्रकट होकर सरकारसे समझौता भी कर लिया किन्तु, साम्यवादी दल समझौतेकी शर्तें तय करनेमें ही लगा रहा और वह बाहर नहीं आया। आज तो वामपक्षी लोग पुनः पूर्ण विद्रोह कर बैठे हैं और सरकार उनके दमनपर तुली हुई है।

बर्मामें उक्त बाह्य विद्रोहके अतिरिक्त अन्तर्विद्रोह भी अनवरत

चल रहा है। यहाँके जिस सत्तारूढ़ राजनीतिक दल "फसपल" ने शासनसूत्र ले रखा था उसमें भी दो विचारधाराओंके व्यक्ति काम कर रहे थे। इस तरह एक ही म्यानमें दो तलवारें रखी हुई थीं। एक दलके नेता ऊ बास्वे और ऊ चौ ऍइ थे और दूसरेके स्वयं प्रधानमंत्री ऊ नू। इन सबमें ऊ नू वय और अनुभवकी दृष्टिसे सबसे बड़े थे। ऊ नूकी यह विशेषता और साम्यवादियोंके प्रति दोनों दलोंका दृष्टिकोण समान रूपसे विरोधी होनेके कारण दोनोंका साथ निभता रहा। किन्तु यह स्थिति अनिश्चित कालतक बिना कलहके बनी नहीं रह सकती थी। अतएव थोड़े ही दिनोंमें मतभेदके एक-न-एक कारण उपस्थित होने लगे। ऊ बास्वे और ऊ चौ ऍइ एक-न-एक विभागके मन्त्री होनेके साथ-साथ उपप्रधान मन्त्री भी वर्षोंतक रहे। विचारोंमें, परोक्ष रूपसे ही सही, भेद होनेके कारण अपना-अपना पक्ष सबल रखनेकी फिक्र दोनों दलोंके नेताओंको सर्वदा रहती थी। यदि यह कहा जाय कि बर्मा सरकारका एक भी विभाग दलबन्दीके रोगसे अछूता नहीं था और न है तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। इस दलगत राजनीतिसे पद एवं अर्थलोलुप कुछ अधिकारी स्वभावतः अनुचित लाभ भी उठाते रहे। आखिर वह दिन भी आ गया जब नेतागण अपने अनुयायियोंके दोष ढँकने और उन्हें अनुचित प्रोत्साहन देने लगे। अब शासनव्यवस्था दूषित होनेके साथ ही "फसपल" के संघटनमें भी दोष आने लगा जिसका कुप्रभाव सम्पूर्ण देशकी जनतापर पड़ा और इस दलके पदाधिकारोंके लिए भी खींच-तान तथा चालबाजियाँ शुरू हो गयीं।

सन् १९५८के फरवरी मासमें "फसपल"के वार्षिक महाधिवेशनके अवसरपर इसके महामन्त्रीके निर्वाचनके प्रश्नको लेकर मतभेदकी कटुता इतनी तीव्र हो गयी कि अधिवेशनके असफल

होनेकी सम्भावनाएँ दिखाई देने लगीं और ऊ नूने नेतृत्व त्याग देने-तककी घोषणा कर दी। महामन्त्री पदके लिए दो उम्मीदवार थे, एक तखिन चौ ड्डुन और दूसरे तखिन ता खिन। चौ ड्डुन ऊ नूके अनुयायी और तखिन "स्वे-ऍइ" पक्षके सम्मानित कार्यकर्त्ता है। लम्बी चख-चखके बाद तखिन चौ ड्डुनको महामन्त्री चुनकर समस्या हल कर दी गयी। महाधिवेशन तो समाप्त हो ही गया, किन्तु वहींसे "फसपल" दो दलोंमें साफ-साफ विभक्त दिखाई देने लगा। जो आग वर्षोंसे भीतर ही भीतर सुल्गती आ रही थी उसकी लपट अब बाहर आ गयी और कभी तीव्र, कभी मन्द दिखाई देने लगी। "फसपल'की कार्यकारिणीकी बैठकोंमें एक पक्ष दूसरेके विरोधमें नारे बुलन्द करने लगा।

सन् १९५८ के अप्रैल माससे "फसपल"की कार्यकारिणीकी एक बैठकमें ऊ नू और "स्वे-ऍइ" नेताओंमें इस हदतक खींच-तान हुई कि एक पक्ष दूसरेका भण्डाफोड़ करनेपर तुल गया। "स्वे-ऍइ" नेताओंका कहना था कि "फसपल"में पैदा हुई फूटके लिए ऊ नू जिम्मेदार हैं और ऊ नूका दावा था कि इसका उत्तरदायित्व "स्वे-ऍइ"पर ही है। फलतः "फसपल" सदाके लिए दो स्वतन्त्र दलोंमें विभक्त हो गया।

इसके नेताओंके कारण बर्माका राजनीतिक वातावरण अत्यन्त विषम बन गया। सत्तारूढ़ दलके दो पक्षोंमें बँट जानेके कारण यह प्रश्न पैदा होने लगा कि "शासनकी बागडोर किस पक्षके हाथोंमें रहे ? कौन प्रधानमन्त्रिपदपर आसीन रहे और सरकार बनाये तथा चलाये ?" इससे एक प्रकारका वैधानिक संकट उपस्थित हो गया। बर्माकी जिस संसदने ऊ नूको प्रधान-मन्त्री निर्वाचित किया था, बिना उसकी अनुमति प्राप्त किये नया प्रधानमन्त्री पद-भार नहीं सँभाल सकता था और सत्तारूढ़ दल "फसपल" के बहुसंख्यक सदस्योंके विरोधी रुख अपनानेके

कारण ऊ नू उस पद-पर बने नहीं रह सकते थे। अन्ततः ५ जून सन् १९५८ को बर्मी संसदका विशेष अधिवेशन बुलाया गया, जिसमे ऊ बा स्वेने ऊ नूके विरुद्ध अविश्वासका प्रस्ताव रखा।

"फसपल"में "स्वे-ऍइ" पक्षका बहुमत था इसका ज्ञान ऊ नूको पहलेसे था। इसलिए मतभेद प्रारम्भ होनेके समयसे ही उन्होने राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा (एन० यू० एफ०) के नेताओके साथ बातचीत शुरू कर दी थी। वे इस दलकी सहानुभूति प्राप्त करनेमे सफल हुए। चार दिनो बाद जब ९ जूनको उक्त प्रस्तावपर मतदान हुआ तो ऊ नू ८ मतोंसे विजयी हुए।

बर्मी संसदमे कुल २४६ सदस्य है। इनमे "स्वे-ऍइ" दलके ११९, ऊ नू पक्षके ८३, राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चेके ४४ सदस्य है।

९ जूनकी विजयके पश्चात् ऊ नू प्रधानमन्त्रिपदपर बने रहे लेकिन "स्वे-ऍइ" पक्षकी विरोधी भावना भी बराबर काम करती रही। प्रत्येक सरकारी विभागके कर्मचारी दो दलोमे विभक्त दीख पड़ने लगे। ऊ नू और "स्वे-ऍइ" नेताओके दौरे भी शुरू हो गये। ऊनूने सम्पूर्ण ऊपरी बर्मा, कछिन-राज्य और इरावदीकी तराईके कुछ नगरोका दौरा एक ही यात्रामें किया और सर्वत्र इनका भव्य स्वागत हुआ। इस दौरेसे वापस आकर जब ये २२ सितम्बरको रंगून पहुँचे तो यहाँका वातावरण बिलकुल बदला हुआ मिला। इन्होने स्थितिका अध्ययन प्रारम्भ किया और ४ दिनोंके गम्भीर विचार-विनिमयके पश्चात् २६ सितम्बरको प्रधान सेनापति जनरल ने विनको पत्र लिखकर आमन्त्रित किया कि वे प्रधानमन्त्रिपद सँभालें। ने विनने पत्रका उत्तर देते हुए कहा कि "मै यद्यपि राजनीतिसे अलग रहना ही पसन्द करता हूँ फिर भी आपके विचारोंके प्रति आदर होनेके कारण मै आपके सुझावको स्वीकार करता हूँ।" ऊ नूने अपने पत्रमे अन्य जिन-जिन बातोका उल्लेख किया था उन सबका

एक-एककर जनरल ने विनने उत्तर दिया और सेनाको राजनीतिसे अलग रखने, सरकारी विभागोंमे व्याप्त भ्रष्टाचारको यथाशक्ति दूर करने, बर्माकी परराष्ट्र-नीतिको पूर्ववत् तटस्थ रखने और ६ मासके अन्दर अर्थात् अप्रैल १९५९ के अन्ततक सम्पूर्ण देशमें आम निर्वाचनकी व्यवस्था कर देनेके लिए यथासम्भव प्रयत्नशील होनेका विश्वास दिलाया।

जनरल ने विन ऊ नूका आमन्त्रण स्वीकार करते हुए भी तबतक प्रधानमन्त्रिपद नहीं सँभाल सकते थे जबतक संसद् द्वारा निर्वाचित नहीं होते। इसलिए ऊ नूने राष्ट्रपति ऊ विन मांगको संसदकी विशेष बैठक बुलानेकी राय दी। विधानके नियमानुसार संसदकी बैठक बुलानेके लिए १ मास पूर्वकी सूचना होनी चाहिये। इसलिए २८ सितम्बरको सूचना विज्ञापित कर २८ अक्तूबरको राष्ट्रपतिने संसदका अधिवेशन बुलाया।

फरवरी १९५८ में होनेवाले "फसपल" के महाधिवेशनके बाद यह दल जिन दो पक्षोंमे बँट गया था उनमेंसे एकका नामकरण 'विशुद्ध फसपल' और दूसरेका 'स्थायी फसपल' किया गया था। विशुद्ध "फसपल" के नेता ऊ नू और तखिन टिन थे और स्थायी "फसपल" के ऊ बास्वे और ऊ चौ ऍइ। इसलिए जब ऊ नूने जनरल ने विनको प्रधानमन्त्रित्व सुपुर्द करना चाहा तो स्थायी "फसपल" के नेताओंकी अनुमति एवं स्वीकृति प्राप्त कर लेना भी अनिवार्य था और आपने वही किया। २६ सितम्बरको जनरल ने विनको पत्र लिखनेसे पहले ही आपने 'स्वे-ऍइ' नेताओंसे परामर्श कर लिया था और उन्होंने ने विनके प्रधानमन्त्री होने का समर्थन करनेका वचन दे दिया था। अतएव २८ अक्तूबरको संसदके अधिवेशनमें जब ऊ नूने ने विनके प्रधानमन्त्री चुने जानेका प्रस्ताव रखा तो "फसपल" के दोनो दलोंके सम्पूर्ण सदस्यों तथा "नफ" (एन० यू० एफ०) के बहुसंख्यक सदस्योने इसके

पक्षमें मत दिया। परिणामस्वरूप ने विन प्रधानमन्त्री निर्वाचित कर लिये गये।

ऊ नूने जनरल ने विनको प्रधान मन्त्री चुने जानेके निमित्त प्रस्ताव करते हुए उस समयकी देशव्यापी स्थितिका सजीव चित्र सामने रखा था जब आपने त्यागपत्र देने और ने विनको भार सँभालनेके लिए बुलानेका निश्चय किया। आपने कहा कि स्थिति इस प्रकार विषम बन गयी थी कि ने विनको आमन्त्रित करनेके सिवाय और कोई विकल्प नही रह गया था।

२९ अक्तूबरको ऊ नू-मन्त्रिमण्डलने त्यागपत्र दिया और ने विन तथा उनके साथी मन्त्रियोने पदभार सँभालनेकी शपथ ग्रहण की।

३१ अक्तूबरको बर्मी संसद्का अधिवेशन बुलाया गया था, जिसमें प्रधानमन्त्री ने विनने प्रथम भाषण करते हुए अपनी सरकारकी नीतियोंका स्पष्टीकरण किया। ने विनने स्वयं पदभार सँभालनेकी स्वीकृति क्यो दी, इसपर प्रकाश डालते हुए कहा कि धीरे-धीरे देशकी स्थिति वैसा ही बन चली थी जैसी करेन बगावतके समय सन् १९४८-४९ मे हो गयी थी। अबसे ६ मास पहले, जबसे सत्तारूढ़ राजनीतिक दल 'फसपल' के नेताओमे फूट पैदा हुई, हालत बिगड़ने लगी और धीरे-धीरे ऐसी दुर्व्यवस्था छा गयी कि जो लोग एक साथ मिलजुलकर काम करते थे, एक-दूसरेको सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगे, यहाँतक कि वे एक दूसरेके जानी दुश्मन बन गये। देशके कुछ क्षेत्रोके राजनीतिक कार्य-कर्ताओंमें तो इतना मतभेद बढ़ गया कि वे कभी-कभी खूँखार वृत्ति अपना लेते थे।

ने विनने कहा कि इस स्थितिसे कुछ लोग नाजायज फायदा उठाने लगे। जिन बागियोंने विगत १० वर्षोंसे क्रान्ति जारी कर रखी है उन्होने सन् ५७ और ५८ के प्रारम्भमे यह महसूस करना

प्रारम्भ कर दिया था कि क्रान्ति कर उन्होने भूल की थी। इस प्रकार वे लाभान्वित नहीं हो सकते थे। उन्होने झुण्डके झुण्ड आकर आत्म-समर्पण करना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु 'फस-पल' में फूट देखकर वे इससे लाभ उठानेकी तृष्णामे पड़ गये। आत्मसमर्पण करनेके बदले वे मोल-चाल करने लगे। जिस साम्य-वादी दलने शान्तिविषयक बातचीत करनेके लिए प्रतिनिधि भेज रखा था उसने सहसा ध्वनि बदल दी और नयी मॉगे पेश करना प्रारम्भ कर दिया। प्यूपिल्स कामरेड पार्टीके क्रान्तिकारियोने आत्म-समर्पण किया, परन्तु वे सच्चे दिलसे सरकारसे नही मिले। उन्होंने जिन हथियारोके साथ आत्म-समर्पण किया है उनमेसे ७० प्रतिशत बेकार है। अच्छे हथियार वे जंगलमें छोड़ते आये है।

पी० सी० पी० के सदस्य केवल आतक पैदा करनेके लिए बाहर आये है। ऐसा करके उन्होने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो रूपोंमें रहकर आतंक जारी रखनेका खाका तैयार किया है। बागी करेनोने भी इस स्थितिसे लाभ उठानेमें कोई कसर नहीं रखी है।

ने विनने बताया कि राजनीतिक फूटने सरकारी शासन-व्यवस्थाओको भी काफी धक्का पहुँचाया है। जिलाधिकारी कर्म-चारी इतने आतंकग्रस्त हो गये कि जुर्म करनेवालोसे दृढ़तापूर्वक कैफियत भी नहीं मॉग सकते। अब यह विचारणीय विषय हो जाता है कि यदि शासनव्यवस्था ही ढीली हो जाय तो देशमें सरकार कैसे कायम रह सकती है? वस्तुतः सन् १९४८-४९ की ही स्थिति पैदा हो चली थी। उस समयकी दशा ऐसी विचित्र हो गयी थी कि इसी पी० सी० पी० के कर्मचारी एक तरफ तो सरकारके आदमी बने थे और दूसरी ओर सरकारी खजाने लूट रहे थे। तब बर्मी सेनाको जैसी आपदाका सामना करना पड़ा था, वह भूल नहीं सकती।

प्रधानमंत्री ने विनने कहा कि अबसे ६ मास पूर्व जबसे मतभेद पैदा हुआ तभीसे देशके अन्य भागके यू० एम० पी० के कार्यकर्ताओंका रंगून आना प्रारम्भ हो गया और अगस्त महीनेतक वे इतनी बड़ी संख्यामे आने लगे कि इसपर विचार करना अनिवार्य हो गया। एक तरफ पारस्परिक फूट, दूसरी ओर शासन-व्यवस्थामे ढिलाई और तीसरी ओर बागियोकी गतिविधिमें उत्तरोत्तर उग्रता तथा राजनीतिक स्तम्भोका हिलने लगना अधिकाधिक विचारणीय विषय बन गया था।

ऐसी स्थितिमे भूतपूर्व प्रधानमंत्री ऊ नूने मुझे बुलाया और भार सँभालनेका प्रस्ताव सामने रखा। स्वयं मुझपर जो दायित्व था उसे दृष्टिकोणमें रखते हुए भी मै इनकार नही कर सकता था और मैने उन्हे स्वीकृति प्रदान कर दी।

जनरल ने विनने कहा कि बर्मी संविधानकी रक्षाके लिए मै हर प्रकारसे तत्पर हूँ और आशा करता हूँ कि सभी सदस्य मेरा साथ देगे। संविधान हमारे लिए उपास्य है। हमे उसे पूर्ण सम्मान देना चाहिये।

आन्तरिक शान्तिस्थापनाके सम्बन्धमें बोलते हुए जनरल ने विनने कहा कि जबतक अपराधियोको उनके अपराधोके निमित्त दण्ड नही दिया जायगा तबतक देशमे शान्तिकी स्थापना नही हो सकती। यह प्रचार करते फिरना कि कम्युनिस्ट नेता तखिन तान ठुनके साथ आमने-सामने बातचीत होनेसे देशमें शान्ति स्थापित हो सकती है, देशकी जनताको धोखेमें डालना है। बागियोके लिए अभी भी दरवाजा खुला है। वे आ सकते हैं। परन्तु प्रत्येक व्यक्तिके कारनामोंपर विचार करके उनके साथ कारवाई की जायगी। यह कदापि सम्भव नही है कि अपराधियोको छूट दे रखी जाय और देशमे शान्ति कायम रहे। सुशासनके लिए कानूनी कारवाई अनिवार्य है और तभी सरकार अपना काम चालू रख

सकती है।

अबसे ६ मास बाद देशमें आम चुनाव करानेकी व्यवस्थाके सम्बन्धमे ने विनने कहा कि जब देशमे अच्छी शासन-व्यवस्था कायम की जायगी तभी निष्पक्ष और स्वेच्छया आम चुनाव होने-की आशा की जा सकती है। हमारी सरकार किसी भी व्यक्ति या दलके पक्षमे न आकर चुनाव करानेकी तैयारियाँ करेगी।

ने विनने कहा कि जिस प्रकार राजनीतिक विद्रोह देशके लिए घातक प्रमाणित हो रहा है उसी प्रकार आर्थिक विद्रोह भी। कालाबाजार करनेवालों तथा नाजायज कीमतपर सामान बेचने-वालोंको मैं चेतावनी देना चाहता हूँ कि वे अपनी हरकतोसे बाज आये। हमारी सरकार सामानका दाम गिरानेके लिए सब प्रकारके साधनोंसे काम लेगी और जिन्हे इस नीतिके विरुद्ध चलते पायेगी उनके साथ सख्तीका बर्ताव करेगी।

प्रधानमंत्रीने कहा कि जहाँतक परराष्ट्रनीतिका प्रश्न है हमारी सरकार किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं करेगी। मै दृढ़तापूर्वक घोषणा कर रहा हूँ कि वह पूर्ववत् तटस्थ नीतिपर आचरण करती रहेगी।

भाषणका उपसंहार करते हुए जनरल ने विनने कहा कि मैं एक बार पुनः यह तथ्य दोहरा देना चाहता हूँ कि केवल सैनिक बलसे काम नही बनेगा, राजनीतिज्ञोंका सच्चा योगदान सर्वथा अपेक्षित है।

: ११ :

बर्मी स्वतन्त्रताके मन्त्रदाता म्हाइंग

बर्मी राजनीतिक इतिहासमें तखिन कोडो म्हाइंगका वही स्थान है जो भारतीय इतिहासमें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक-का। कोडो म्हाइंग वर्तमान पीढ़ीके सभी बर्मी राजनीतिज्ञों (तखिन) के गुरु हैं। सन् १८८५ में जब अंग्रेजोंने अन्तिम बर्मी राजा तीबोको माण्ड-लेके राजमहलमें गिर-फ्तार किया उस समय आप १३ वर्षके थे। गिरफ्तारीकी घटना आपकी आँखोंके सामने घटी। आपका कहना है कि राजा तीबोकी गिरफ्तारीके दृश्यका आपके हृदयपर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ा था और तभीसे आप अंग्रेजोंके प्रति घृणाका भाव रखने लगे थे। आपका प्रारम्भिक नाम ऊ लुन था। 'छि माँग वैते' नामक एक उपन्यासको पढ़नेके बाद आपने अपना नाम माँग म्हाइंग रखा।
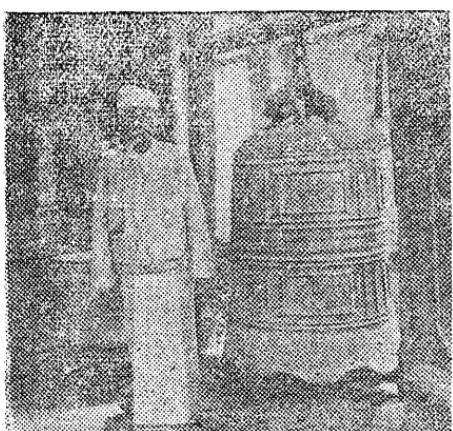
तखिन को डो म्हाइंग

'छि मांग वैते' उपन्यासमें निम्नवर्गके एक कुँजड़ेका जीवन

चित्रित किया गया है और उसे अत्यन्त हेय रूपमें दिखाया गया है। इस उपन्यासमे निम्नवर्गके इस चरित्रके प्रति सहानुभूति नही प्रकट की गयी थी वरन् खिल्ली उड़ायी गयी थी। तखिन कोडो म्हाइंगको कथाकारका दृष्टिकोण अच्छा नहीं लगा। ऐसे वर्गके लोगोके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करनेके लिए उन्होने उपन्यासके नायकका नाम अपने उपनामके रूपमे ग्रहण कर लिया। आपने उच्चवर्गके लोगोकी भ्रष्टताका दिग्दर्शन करानेके लिए 'मिस्टर मांम्हाइंग मारोबो' उपन्यास लिखा। बर्मामें उन दिनो लोग 'मिस्टर' कहलाना बड़े शानकी बात समझा करते थे।

तखिन कोडो म्हाइंगने २० वर्षकी उम्रसे लेखन-क्षेत्रमे प्रवेश किया। आपने कविता और गद्य दोनो ही लिखा है, परन्तु जन-जागर्तिके लिए गद्यलेखन आपको अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ और आप उसीमें लगे। अनेक वर्षोंतक इस रीतिसे राष्ट्रीय सेवा करनेके पश्चात् सन् १९१८ से आपने स्वतन्त्रता-संग्राममे सक्रिय रूपसे भाग लेना प्रारम्भ किया। यह वह समय था जब भारतमें, जिसका तब बर्मा एक अंग था, राष्ट्रीय जागरण-का ज्वार हिलोरे मार रहा था।

तखिन कोडो म्हाइंगका बर्मी साहित्यमें वही स्थान है जैसा कि रूसमे गोर्कीको प्राप्त है। आपके साहित्यिक रंगमंचपर आनेसे पहले बर्मी साहित्यिकोकी अभिरुचि अतीव निम्न थी। अश्लील कहानियोको छोड़कर ऊँचे साहित्य-सर्जनकी ओर बहुत कम लोगोंका ध्यान जाता था। कोडो म्हाइंगने स्वयं तो सैकड़ो राष्ट्रीय कहानियाँ लिखकर बर्मी साहित्यमे एक नयी धारा बहायी ही, अन्य अनेक लेखको और कवियो एवं उपन्यासकारोको भी प्रेरणा प्रदान कर लोकमंगलकारी साहित्य प्रस्तुत करनेकी ओर प्रोत्साहित किया। इस प्रकार अनेक साहित्यकारोंको

दीक्षा देकर 'साहित्यिक गुरु' होनेका गौरव भी आपने प्राप्त किया है।

कोडो म्हाइंगने डोबामा असियोके सम्बन्धमे 'तखिनतीका' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस पुस्तकमे आपने गुलामीकी निन्दा करते हुए राष्ट्रीय जागरण एवं स्वातन्त्र्यके निमित्त अग्रसर होनेकी चुनौती दी है। देशनायकोके कर्त्तव्योको निर्दिष्ट करते हुए विदेशी सत्ताकी आपने भर्त्सना की है। यो तो आपने दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं, परन्तु जिनका नाम विशेष आदरसे उल्लेखनीय है वे हैं—'मिस्टर मांम्हाइंग मारोबो', 'डॉवतीका', 'म्यावतीका' और 'तखिनतीका' इत्यादि।

सन् १९५५ में आपको रूस सरकारकी ओरसे 'स्टालिन-शान्ति पुरस्कार' जन-कल्याणकारी साहित्यके निर्माणके उपलक्ष्यमें दिया गया था। बर्माके सर्वप्रमुख साम्यवादी नेता तखिन तान ठुन बर्मी सरकारसे सन् १९४८ मे मतभेदके कारण जबसे फरार हुए तभीसे तखिन कोडो म्हाइंग अत्यन्त सन्तप्त रहने लगे। आपको तखिन तान ठुन और प्रधान मन्त्री ऊ नू समान रूपसे प्रिय हैं। आपका दोनोके प्रति समवात्सल्य रहता आया है और दोनो नेताओमे मतभेद और बर्मी राष्ट्रमे फूटके कारण इस वृद्ध राजनीतिज्ञकी स्थिति ऐसी धर्मसंकटकी हो गयी जैसी महाभारत-युद्धकालमें कर्ण और अर्जुनमे संघर्ष छिड़नेकी घड़ी आ जानेपर माता कुन्तीकी थी। आप नू और तान ठुनको पुनः एक साथ लानेके निमित्त अनेक प्रकारसे प्रयत्न करते रहे है। नू और तान ठुन, दोनो नेताओके बीच संघर्ष बन्द कराने और इस प्रकार बर्मामे शान्ति स्थापित देखनेके लिए आपने अभियान और आन्दोलन जारी रखा। 'शान्ति-प्रिय' जनताको साथ लेकर आपने प्रदर्शन किया बृहद् सभाओमें खुल्लम-खुल्ला भाषण करके गृह-युद्धके परिणाम-स्वरूप हुई क्षतिका विश्लेषण सामने रखा और जनताको

सावधान किया। लेखमाला प्रकाशित कर शान्तिके महत्त्वको समझनेमे जो पिछड़े हुए दीख पड़े उन सबको कोसा। इस भाँति उभय पक्षोंके समक्ष मेल-मिलापके सुझावोको रखते हुए आपने कहा कि "मै वृद्ध हो चला हूँ, मरनेके सन्निकट हूँ। और यदि मुझे शान्तिसे मरने देना चाहते हो तो 'गृह-युद्ध' बन्द करो।"

खण्ड चार

: १ :

पगोडाओंका नगर रंगून

बर्माकी राजधानी और प्रधान नगर रंगून, भारतीयोंकी बहुलताके कारण पहले भारतका ही एक भाग जैसा मालूम देता था। युद्धपूर्वकालमें किसी बाजारमें निकल जानेपर ऐसा लगता था कि भारतके किसी बड़े नगरमें घूम रहे हैं। भारतीयोंकी संख्या भी अब कम हो गयी है और युद्धोत्तरकालके रंगूनका रूप भी कुछ बदल गया है। बर्मा-स्वतन्त्रताके साथ राजधानी रंगूनको भी विशिष्ट व्यक्तित्व प्राप्त हो गया है।
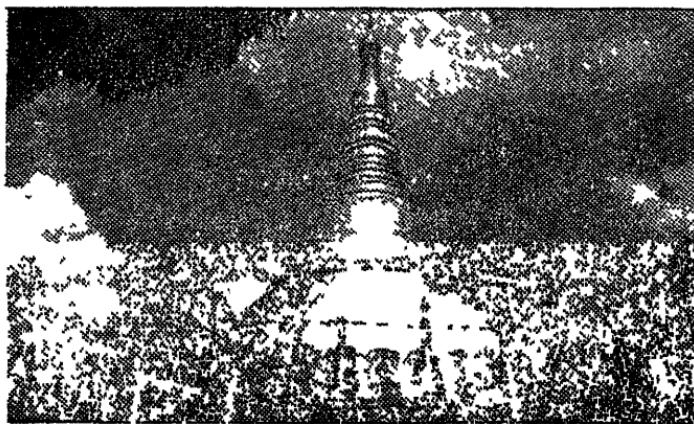
श्वे डगोन पगोडाका ऊपरी भाग

रंगूनका प्रथम नाम ओकाला था, जैसा कि सरकारके सूचना-विभागके एक प्रकाशनमें बताया गया है, 'श्वे डगोन

पगोडा'की स्वर्णिम छायामें अवस्थित होनेके कारण बादमें इसे डगोन कहा जाने लगा। कालान्तरमें, जब सन् १७५५ में राजा
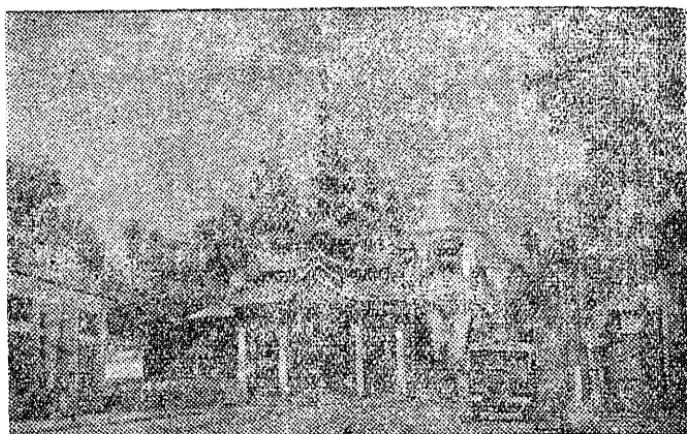
श्वे डगोन पगोडाका मध्यभाग और मुखद्वार

श्वे डगोन पगोडाका निचला भाग

अलांगफयाने निचले-बर्मापर कब्जा कर लिया तो इसका नाम ओकालासे बदलकर 'यॉकोन' कर दिया गया। 'यॉकोन'का शाब्दिक अर्थ 'संघर्षका अन्त' बताया जाता है। सन् १८५२ में जब रंगून अंग्रेजोंके अधिकारमें आया तो 'यॉकोन' अंग्रेजीकरणसे हो गया रंगून और तभीसे यह 'रंगून' कहलाने लगा।

जब अलांगफयाने सन् १७५५ में रंगूनपर कब्जा किया था उस समय 'रंगून नदी'के तटपर यह एक छोटा-सा गॉव था, जिसका क्षेत्रफल कुल १० हजार वर्ग गज था। नदीके उस पार 'सिरियम' बसा हुआ था, जिसका महत्त्व तब यद्यपि रंगूनसे कहीं अधिक था किन्तु समुद्री-व्यापारकी दृष्टिसे रंगूनकी स्थिति केन्द्रीय होनेके कारण अलांगफयाने इसे 'बन्दरगाह'का स्वरूप देना प्रारम्भ कर दिया और इसकी श्रीमें वृद्धि होने लगी।

फिर धीरे-धीरे सम्पूर्ण दृश्य ही बदल गया। ब्रिटिश वास्तुविदोंने नगरके पुनर्निर्माणका जो नक्शा तैयार करके दिया वह अमेरिकी शहरोंके नमूनेका था और उसके अनुसार ही इसे बसाया गया। इस समय इसका क्षेत्रफल ७७ वर्ग मील है और आबादी ८ लाख है।

हवाई और समुद्रके मार्गसे रंगूनका अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध है और देशके भीतरके सभी प्रमुख नगर जल-थल-रेलवे और हवाई मार्गसे इससे सम्बद्ध हैं।

हवाई उड़ान लेकर यदि रंगून शहरपर दृष्टि डाली जाय तो यह एक प्रायद्वीप जैसा दिखाई देगा। पूर्व, दक्षिण और पश्चिममें यह रंगून नदीसे घिरा हुआ है। शहरका मध्यभाग सदा ही जनाकीर्ण दिखाई देता है। कहीं मोटरें चलती है तो कहीं घोड़ा-गाड़ियॉ दीख पड़ती हैं। जहॉ-तहॉ 'ट्रिशा' भी दिखाई देती हैं। आदमियों द्वारा खीचें जानेवाले रिक्शोका चलना बर्मा स्वतन्त्र होनेके बादसे बन्द कर दिया गया है। शहरसे बाहर 'रंगून-

विश्वविद्यालय' अवस्थित है, जिसका क्षेत्रफल ४३५ एकड़ है। शहरसे ११ मीलकी दूरीपर मिंगलाडोन हवाई अड्डा है, जो दक्षिणी-पूर्वी-एशियाका हवाई यातायात-केन्द्र है।

विगत विश्व-युद्धके कारण रंगून शहरका एक बड़ा भाग ध्वस्त हो गया था, जिसका धीरे-धीरे पुनर्निर्माण होता जा रहा है। शहरके मध्यके खण्डहरोंपर तो नये भवनोंका निर्माण हो ही रहा है, बाहरके क्षेत्रोंमें भी नित नये कारखाने बनते जा रहे हैं। रंगूनसे ७ मील दूर इंसिन जानेवाले मार्गपर, 'ज्योगोन'के आस-पास एक इस्पातका कारखाना, एक जूटमिल, कृषि अनुसन्धान-शाला तथा विविध कारखानोंको विद्युत्-शक्ति पहुँचानेके लिए एक विद्युत् भवनके निर्माणका कार्य उत्तरोत्तर प्रगतिपर है।

बर्माकी ग्राम्य-स्थितिको समझनेके लिए भी आपको विविध दृश्यों और कोलाहलसे भरे इस नगरसे बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। रंगूनसे केवल ५ मील ही पश्चिम किमिन-डाइन क्षेत्र है, जहाँ बर्मी स्त्रियोंके उपयोगमें आनेवाले छाते और स्थापनाके निमित्त भगवान् बुद्धकी मूर्त्तियाँ बनायी जाती हैं। भिक्षुओंके पहननेके काषाय वस्त्र भी यहाँ बुने और रँगे जाते हैं। किमनडाइनसे दो ही मील आगे कमायुटका क्षेत्र है, जहाँ अलुमिनियमके बर्तन, मोजे, साबुन, बिस्कुट और छाते तैयार किये जाते हैं।

रंगून नदीकी तटीय स्थितिका किंचित् विशद वर्णन अपेक्षित है। नदीके तटके ठीक समानान्तर 'स्ट्रैण्ड-रोड' है। इस रोडके पास ही 'रंगून-जटी'के सामने प्रसिद्ध 'स्ट्रैण्ड-होटल' है। यहाँ नदीकी चौड़ाई ८०० गज हो गयी है। रंगून बन्दरगाहके निकट नदी ७२०० गज चौड़ी है। नदीकी गहराई ३५ फुटसे ५० फुटतक पायी जाती है। बन्दरगाहके अन्तर्गत मुख्य जटियाँ सूले पगोडा, अलोन और ब्रङ्किग स्ट्रीटकी हैं। इस क्षेत्रमें पीपे

अथवा नावके छोटे-छोटे ३२ पुल हैं और १७ ऐसी जटियाँ हैं जिनका उपयोग अन्तर्देशीय जल-यातायातके लिए होता है।

स्ट्रैण्ड रोडके बाद नगरके भीतरी भागमें प्रवेश करनेपर सूली-पगोडा-रोड मिलती है, जो शहरका सबसे अधिक चौड़ा मार्ग है। यह कम्पनी उद्यान और 'स्वतन्त्रता स्मारक'को छूता हुआ सूले-पगोडाकी परिक्रमा कर रेलवे पुलके पार सिगनल पगोडा रोडकी ओर जाता है। शहरके अन्य प्रमुख मार्ग मर्चेण्ट फेयर और डलहौजी स्ट्रीट है।

सूली-पगोडा रोडसे होकर रेलवे कार्यालयके सामनेके पुलको पारकर दाहिनी ओर मुड़नेपर ऑग सॉ क्रीड़ा-स्थल मिलता है। इस खेल-मैदानके सामने ही रेलवे-स्टेशन है, जो युद्धकालमे बर्बाद हो गया था और अभी जैसा इसका निर्माण किया गया है वह बर्मी स्थापत्य कलाका चमत्कारपूर्ण नमूना है। ऑग-सॉ खेलका मैदान बर्माका सबसे अधिक उपयोगी और प्रसिद्ध मैदान है। यहाँ अन्तरराष्ट्रीय और देशीय मैच—खेल-प्रतिस्पर्धाएँ होती रहती है। विशेष अवसरोपर जैसे संघ-दिवस अथवा प्रतिरोध-दिवस आदिपर यहाँ विराट सभाएँ होती है। रंगून शहरसे उत्तर-पश्चिम चाकसानकी ओर जाते हुए 'टर्फ-क्लब' मिलता है। यहाँकी घुड़दौड़ (रेसकोर्स) एशियामे सर्वोत्तम मानी जाती है। दौड़का रास्ता डेढ़ मील लम्बा है, जिसपर घास जमा रखी गयी है। गर्मीके महीनोको छोड़कर अन्य महीनोमे प्रति रविवारको यहाँ घुड़दौड़ होती है। इसी टर्फ-क्लबकी एक शाखा बर्माके द्वितीय सर्वश्रेष्ठ नगर मांडलेमें भी है। चाकसानसे कुछ आगे 'तिङ्गाजुन-मुहल्ला' है, जो प्रत्येक दृष्टिसे दिनोदिन प्रगति करता जा रहा है।

रंगूनके प्रसिद्ध 'रायल-लेक'के एक तटपर बर्मी स्वतन्त्रताके सर्वश्रेष्ठ शिल्पी ऑग-सॉनकी मूर्ति स्थापित है। मूर्तिके पास

मन-मोहक छोटे-छोटे पौधे हैं, जो सन् १९५४में 'विश्ववृक्ष-दिवस' मनाये जानेके उपलक्ष्यमे लगाये गये थे। आगे श्वे डगोन पगोडाकी छायामे अर्जनी (शहीद) पहाड़ीपर ऑग सॉ और उनके ६ साथी शहीदोकी समाधियाँ मिलती हैं।

रंगून शहरसे बाहर अलोन रोड होते हुए पश्चिमकी ओर जानेपर साढ़े छिहत्तर एकड़की पर्वतीय ऊँची भूमिपर स्थित स्वतन्त्र बर्माके राष्ट्रपतिका भवन मिलेगा, जो पहले ब्रिटिशकालीन बर्माके गवर्नरका निवासस्थान था। तब उसे 'गवर्नर-हाउस' कहा जाता था। राष्ट्रपतिके प्रासादके सभा-कक्षमे अन्तिम बर्मी राजा तीबोका सिंहासन रखा हुआ है, जो बर्माके उज्ज्वल अतीतकी ओर ध्यान आकृष्ट करता रहता है।

भारतीय अन्तिम मुगल बादशाह जफरका समाधिस्थल भी इसी रंगून शहरमें है। यह समाधि 'श्वे डगोन पगोडा'के पास रायल झीलके किनारे एक बाटिकामे है।

सन् १८५७ की विफल क्रान्तिके बाद हिन्दुस्तानके अन्तिम बादशाह बहादुरशाहको कैद कर अँग्रेजोने रंगून ले जाकर डाल दिया। जिस 'शाने मुगलिया'का झण्डा तीन सौ वर्षोंतक दूर-दूरतक फहराता रहा है, ऐसे महान् मुगल सम्राटोके अन्तिम नामधारीको बदनसीबीने किस हालततक पहुँचा दिया था, यह आगेकी कुछ पद्य पंक्तियोमें झलकता है, जिनके बारेमे कहा जाता है कि बादशाहने, जो 'जफर' उपनामसे कविता करते थे, मरनेके कुछ पहले लिखी थीं—

लगता नही है दिल मेरा उजड़े दयारमे।
रोजे हशरसे माँगकर लाया था चार दिन,
दो आरजू मे कट गये दो इन्तजार मे।
इतना था बदनसीब 'जफर' दफन के लिए,
दो गज़ जमीन भी न मिली कूये यार में॥

: २ :

श्वे डगोन पगोडा

भिन्न-भिन्न देशोकी सांस्कृतिक स्थितियोंको समझनेके लिए पृथक्-पृथक् माध्यम है। बर्माकी सांस्कृतिक परम्पराको जाननेके निमत्त यहाँके पगोडाओका इतिहास समझना जरूरी है।

बर्मी ग्रन्थोमे 'पगोडा' नामकरणके सम्बन्धमे विभिन्न उल्लेख मिलते हैं। कहा जाता है कि सिंहलीय (लंकाके) 'डगोवा'का रूप बिगड़कर 'पगोडा' हुआ है। 'डगोवा'को संस्कृतके 'धातु-गर्भा'से सम्बन्धित बताते है। 'धातुगर्भा'का अर्थ है 'पुनीत अव-शेषोंकी स्थापनाका स्थल'।

पगोडाओकी आकृति निश्चित करनेके बारेमें भी एक कथा बतायी जाती है कि गौतम बुद्धने महानिर्वाणकी प्राप्तिसे पहले स्वयं निर्देश किया था कि उनकी समाधिपर चावलके ढेरकी पहाड़ी बना दी जाय। फिर यह उल्लेख भी मिलता है कि माता महारानी मायादेवीके गर्भमें भ्रूणकालीन बुद्धकी आकृति कमल-कलीकी-सी थी। अतएव इन दोनोंको संयुक्त करनेके बाद पगोडाओका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया।

रंगूनका 'श्वे डगोन पगोडा' इस देशका प्राचीनतम देवालय (पगोडा) प्रमाणित किया गया है। ईसासे ५८५ वर्ष पूर्व इसका निर्माण होना बताया जाता है। प्रारम्भिक कालमें यह केवल २७ फुट ऊँचा था और १५वीं सदीमें इसे ३२६ फुट ऊँचा बना दिया गया है। पेगूकी रानी 'शिन साबूने' अपने जामाताके लिए राजगद्दी छोड़नेके पश्चात् इस पगोडाका पुनर्निर्माणकर इस ऊँचाई-

तक पहुँचाया।

प्राचीनताके कारण ही श्वे डगोनकी सर्वाधिक प्रसिद्धि नहीं है। बर्माके बौद्ध-धर्म-ग्रन्थोंमें उल्लेख है कि ओकाला (उत्कल)के 'मोन' क्षेत्रीय 'तापुसा' और 'वालिका' नामक एक व्यवसायी-दम्पति समुद्रके रास्ते होते एक बार भारत गया जहाँ भगवान् तथागतका इसे साक्षात्कार हुआ। भगवान्ने प्रसन्न होकर अपने ही हाथों इसे अपने आठ बालोंका उपहार दिया और जब ये वापस आये तो तत्कालीन राजा ओकलापाने तेइगु-तारा पहाड़ीपर सोनेके 'पगोडा'में इसकी स्थापना की। एक जनश्रुतिके अनुसार यह भी कहा जाता है कि उनके बादके तीन और बुद्धोंके पवित्र-अवशेषोंकी भी स्थापनाएँ इस पगोडाके विविध भागोंमें की गयी है।

श्वे डगोनपर शताब्दियोंसे राजा-रानियोंसे लेकर साधारण जनतक सोना, चाँदी और जवाहरात चढ़ाते चले आ रहे हैं। जिस प्रकार आज स्वर्ण और रजतपत्रों तथा कीमती हीरे और जवाहरातोंके जड़ाऊ छत्रोंसे ढका तथा अलंकृत यह मिलता है, उनका मूल्य यदि लाखों रुपये भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

'श्वे डगोन' देवालयके चारों ओर, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण छायादार प्रवेशमार्ग हैं। इन मार्गोंके किनारे सर्वदा दुकानें इस प्रकार सजी रहती हैं मानो बाजार ही लगा हुआ हो। देवार्चनकी सामग्रीसे लेकर अन्य विविध वस्तुएँ प्रचुर मात्रामें वहाँ रखी मिलती हैं। बौद्धधर्मावलम्बी पूजनके निमित्त पुष्प, मोमबत्ती स्वर्णपत्र, खिलौने और पीतलके पात्र खरीदा करते हैं। ऊ विजारा रोडसे होकर यदि देवालयके पश्चिमी भागमें प्रवेश किया जाय तो पश्चिमकी ओर दीवारपर उन राजा ओकलापाकी मूर्ति मिलेगी, जिन्होंने इस पगोडाकी स्थापना की थी। पगोडाकी

कुर्सी धरातलसे २ फुट ३ इंच ऊँची और इसकी परिधि १४२० फुट है। मुख्य देवालयके आँगनमे ६४ पगोडे निर्मित किये गये है और ठीक मध्यमें चार बड़े पगोडा। आँगन संगमर्मरका बना हुआ है और वहाँ परिक्रमा करते हुए जिस ओर भी नजर फेरिये सुन्दरतम रीतिसे लकड़ीपर खुदाई किये गये कारीगरीके नमूने मिलेगे और विशाल खम्भे दिखाई पड़ेगे। पीतलकी बनी बुद्धकी मूर्तियोकी बहुलता भी कुछ कम आकर्षक नही है। यही १६ टनके वजनका महाघण्ट भी दीख पड़ता है जो सात फुट ऊँचा, ६।। फुट चौड़ा और १ फुट मोटा है। इस घण्टेको राजा सिगूमिनने सन् १७७८ मे भेट किया था। सन् १८४१मे राजा थारावडी द्वारा भेंट किया गया एक दूसरा महातिसा घण्ट भी है, जिसका वजन ४० टन है और जो ८३/४ फुटऊँचा ७ फुट ८ इंच चौड़ा और १ फुट मोटा है।

राजा थारावडीने एक और घण्ट दिया था जो ऊपरी बर्माके मिण्डान नामक स्थानमें है। इससे सम्बन्धित इतिहासमे एक अलौकिक घटनाका वर्णन मिलता है। अंग्रजोने ऊपरी बर्मापर कब्जा करनेके बाद युद्धकी जीतके लाक्षणिक उपहारस्वरूप मिंडान-स्थित उक्त घण्टेको ले जाना चाहा था, परन्तु जब उन्होने उसे नावके बेड़ेपर रखा तो बेड़ा उस घण्टेके प्रतापसे फट गया और घण्टा रंगून नदीमें गिर पड़ा। कुछ वर्षों पश्चात् बर्मियोने उक्त घण्टेको जैसे-तैसे बाहर निकाला और यथास्थान ले जाकर रखा।

श्वे डगोनके आँगनसे ऊपर दृष्टि उठानेपर तीन चौरस चबूतरे दिखाई देते हैं, जिनमेंसे पहलेपर ६४ छोटे और ४ बड़े पगोडे हैं। दो अन्य चबूतरोके बाद 'खांग लॉग पोन' नामक घण्ट दीखता है, जिसकी परिधि ४४२ फुट से प्रारम्भ होकर १९२ फुट है। इसकी ऊँचाई ७० फुट ४ इंच है। इसके बाद भिक्षु पात्र है और फिर ४१

फुटकी ऊँचाईपर ३१ फुट ५ इञ्च ऊँचा कमलका फूल दीख पड़ता है। दृष्टि और ऊँची करनेपर ५२ फुट ११ इञ्च ऊँची मीनार और तब ३३ फुट ऊँचा स्वर्णच्छत्र है, जिसे राजा मिण्डनने भेंट किया था और जिसका मूल्य ५० हजार पौंडके लगभग है।

श्वे डगोनके शीर्षपर हीरेकी कली जड़ी गयी है, जिसके नीचे बहुमूल्य जवाहरातोंसे जड़ी स्वर्ण-मेखला है।

'श्वे डगोन'के पड़ोसमें बहुसंख्यक पगोडा और धर्मशालाएँ हैं और ऊँचे ताड़के वृक्ष तो मानो आकाश छूनेके लिए एक-दूसरेसे होड़ लगाये हुए हैं।

बर्मी संस्कृतिका प्राचीनतम आलोकस्तम्भ जैसा यह 'श्वे-डगोन' पगोडा है। तापुसा और बालिका दम्पतिकी याद तो यह दिलाता ही है, भारत और बर्माकी सांस्कृतिक एकताकी नीवकी भी पुष्टि करता है।

: ३ :

सूले पगोडा

'सूले पगोडा'के इतिहासके सम्बन्धमें बताया जाता है कि गौतम बुद्धके महापरिनिर्वाणके २३६ वर्षों बाद पूज्य महिन्द नामक एक भिक्षु लंका गये और वहाँ तीन वर्षोंतक निवास करनेके पश्चात् जब वापस आने लगे तो लंकाके तत्कालीन
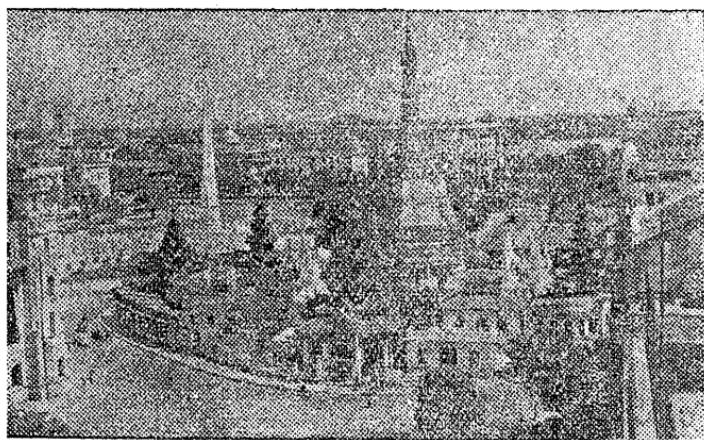
सूले पगोडा और स्वतन्त्रता-स्मारक स्तम्भ

राजाने उनके साथ ८ व्यक्तियोंका एक 'शिष्ट-मण्डल' और पवित्र-अवशेष बर्मा भेजा। जब महिन्द वापस आये तो सिरियम के तत्कालीन राजा 'भोगसेन'ने उन सबका स्वागत् किया और अपने मन्त्री 'अथोक'को एक पगोडाका निर्माण करनेका आदेश

दिया। इसका प्रथम नाम 'चइक-अथोक' या चइक सुरा पड़ा। सुरा, शूर (वीर) शब्दका अपभ्रंश है और उस समय अथोक (अशोक) एक ख्यातिप्राप्त शूर था। धीरे-धीरे सूर (शूर) बिगड़ते-बिगड़ते 'सूले' बन गया।

दूसरी कथा यह प्रचलित है कि भगवान् बुद्धके जीवनकालमे ही 'श्वेडगोन पगोडा'के निर्माणके निमित्त स्थान निश्चित् करनेके लिए इसी स्थानपर जहाँ सूले पगोडा खड़ा है, एक सभा बुलायी गयी थी। 'सू'का अर्थ है, भीड़। सूले पगोडाकी ऊँचाई १५७ फुट है। रंगून शहरका वह सबसे चौड़ा मार्ग जो सिगनल पगोडा रोड और रेलवे पुलको पार करता हुआ आता है, इसी पगोडा (सूले)के नामसे 'सूले पगोडा' मार्ग कहा जाता है। इस रास्तेसे आनेपर—'सूले पगोडा'के पास पहुँचकर बाईं ओर दृष्टि फेरी जाय तो रंगून कार्पोरेशनका भवन मिलता है। उसके दक्षिण 'बण्डूला स्क्वायर' है, जहाँ स्वतन्त्रता-स्मारक खड़ा दीखता है और कुछ ही आगे बर्माका 'उच्चतम-न्यायालय' है। यही सूले-पगोडा-रोड जब जटीके पास स्ट्रैंड रोडसे मिलता है तो बायीं ओर बैंक और फिर पुलिस-कोर्टके भवन मिलते हैं।

सूले-पगोडासे दाहिनी तरफ जानेपर डलहौजी स्ट्रीट मिलती है। यह शहरके उस क्षेत्रसे होकर गुजरती है जहाँसे रंगून शहर ही नहीं, सम्पूर्ण बर्माके कपड़े और सोने, चाँदी तथा जवाहरातके व्यवसाय केन्द्रित है। रंगूनके सर्वाधिक सम्पन्न व्यवसायियोका क्षेत्र 'मुगल स्ट्रीट' और 'एडवर्ड स्ट्रीट' यहीं है। अधिक आगे जानेपर 'चाइना-टाउन' मिलता है, जो महादेश चीनका ही एक टुकड़ा मालूम देता है।

: ४ :

वोटाटांग पगोडा

बर्मी जनश्रुतियोंके अनुसार वोटाटांग पगोडाके प्रथम निर्माणके सम्बन्धमे बताया जाता है कि दो हजारसे कुछ अधिक वर्षों पहले भारतसे ८ बौद्ध भिक्षुओका एक शिष्टमण्डल गौतम बुद्धके केशोके पवित्र अवशेषोको लेकर रंगून आया था—जिसका स्वागत् सिरियमके तत्कालीन राजाने किया और अवशेषोको
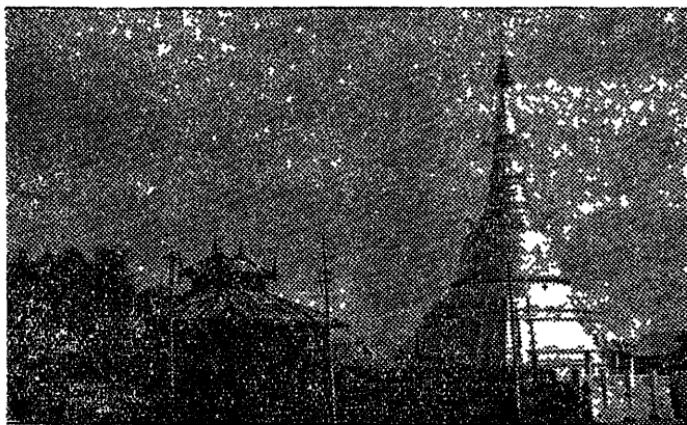
वोटाटाग पगोडा

अपने मन्त्रीको दिया। वे अवशेष 'श्वे डगोन पगोडा'से ७ हजार हाथ (साढ़े तीन हजार गज) दक्षिण-पूर्वमे रंगून-नदीके तटके निकटकी एक पहाड़ीपर स्थापित किये गये। और उसके ऊपर जिस पगोडाका निर्माण किया गया उसका नाम 'वोटाटांग' पड़ा। बताया जाता है कि बर्मीमे 'वो' शब्दका अर्थ है—सैनिक

अधिकारी और टाटांगका अर्थ है हजार-हजार। भारतसे अव-शेषोको लेकर जो शिष्टमण्डल आया था उसका स्वागत् हजारो सैनिकोकी भीड़ने किया था इसलिए इसका नामकरण 'बो टाटांग' किया गया।

विगत विश्व-युद्धके दौरानमे सन् १९४३ के नवम्बर महीनेमे मित्रराष्ट्रीय फौजोकी भीषण बम-वर्षासे बोटाटांगका पुराना पगोडा ध्वस्त हो गया और उसके खॅडहरकी खोदाई करनी पड़ी। खोदाई करनेपर अवशेषोकी स्थापनाका एक कक्ष मिला जिसमे पत्थरकी एक डब्बा मंजूषा रखी हुई थी। उस डब्बेकी आकृति पगोडा जैसी थी। इनके अतिरिक्त बहुमूल्य जवाहरात, विविध भॉतिके आभूषण, नक्काशीदार पात्र और सोना-चॉदी तथा पीतलकी ७ सौ मूर्तियॉ भी मिली। इन पात्रोंमे एक पात्र विशेष रीतिसे बना हुआ है। इसके एक ओर भगवान् बुद्धकी मूर्ति और दूसरी ओर पाली भाषा तथा दक्षिण भारतकी लिपिमे लिखे कुछ लेख है। उस समयके मोन राजाओ द्वारा इसी लिपिका प्रयोग होता था। पत्थरके उक्त डब्बेके भीतर एक और डब्बा था और इसमें एक नन्हा-सा स्वर्ण-पगोडा चॉदीके छोटे मंचपर बना हुआ है जिसके भीतर भगवान् बुद्धके एक केशका अवशेष है तथा उसके साथ दो केश और है। खोदकर निकाले गये ये सभी सामान प्रदर्शनके लिए बाहर रखे हुए है और जबतक पुराने पगोडाका पुनर्निर्माण नहीं किया जाता वहीं रखे रहेगे।

'बोटाटांग'का नया पगोडा पुराने पगोडाके खॅडहरके एक-दम सन्निकट है जिसकी ॲचाई १३१ फुट ८ इञ्च है। इसमे दीवारोपर ताखे बनाये गये है ताकि खुदाईसे मिले हुए अव-शेषोको सुरक्षित रखा जा सके। ठीक मध्यमे एक कूप बना हुआ है जिसमें अवशेष रखे जा सकते हैं और आवश्यकता पड़नेपर निकाले जा सकते है।

: ५ :

कबा एइ पगोडा

बर्मामें हजारों पगोडे हैं। इनमेंसे प्रत्येकके निर्माणकी कोई न कोई ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि है। बर्मी 'कबा' शब्दका अर्थ है 'विश्व' और 'एइ'का अर्थ है 'शान्ति'। इस प्रकार 'कबा एइ' पगोडाका तात्पर्य है 'विश्व-शान्ति पगोडा'। अर्थात्, वह
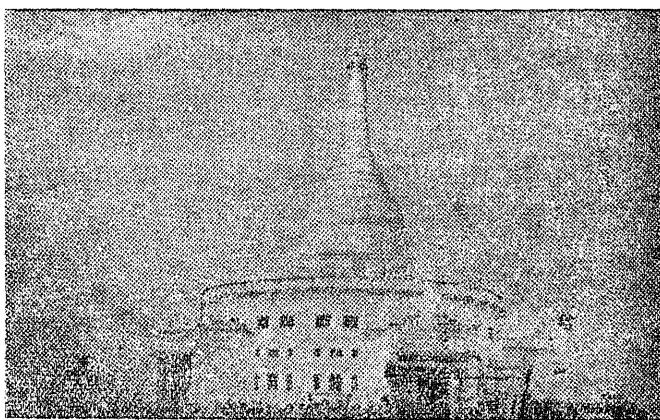
विश्वशान्ति पगोडा (कबा एइ)

पगोडा जिसका निर्माण अखिल विश्वमें शान्ति स्थापित होनेकी 'कामना'को साकार स्वरूप देनेके अभिप्रायसे किया गया हो अथवा जिसके प्रतापसे विश्वमें शान्ति फैलानेकी आशाकी जा रही हो।

सन् १९४८ मे पकोकूसे कुछ दूरीपर शिन माच्याइङ्ग पहाड़ीकी चढ़ाईपर 'सया ठे' नामक एक बर्मी ध्यानमग्न थे। एक वृद्ध आदमी सफेद पोशाक पहने हाथमे बॉसका एक ऐसा दण्ड लिये आया जिसपर 'सिरी मंगला' पालीमे लिखा हुआ था। उस वृद्धने प्रस्ताव किया कि उक्त दण्ड प्रधान मंत्री ऊ नूको दे दिया जाय और उनसे कहा जाय कि वे एक पगोडाका निर्माण करे तथा 'बुद्ध सासना'को और अधिक बलशाली बनायें। जब ऊ नू तक यह सन्देश पहुँचा तो उन्हें ये बाते आकाशवाणी-सी प्रतीत हुई और उन्होने एक पगोडाके निर्माणके निमित्त उपयुक्त स्थान तलाशना प्रारम्भ कर दिया। कुछ खोजके बाद रंगूनसे ७ मीलकी दूरीपर एक पहाड़ी इसके निर्माणके अनुकूल जान पड़ी जिसका नाम दैवयोगसे 'सिरीमंगला' ही मालूम हुआ। यही 'कबा एइ' पगोडाका बनाना सन् १९५० में प्रारम्भ किया गया और सन् १९५२ मे वह पूरा हो गया।

नीवके पास इस पगोडाकी परिधि ३ सौ फुट है। इसकी ऊँचाई ११८ फुट है और शीर्ष स्वर्णिम है। मूर्ति-स्थापना और अवशेषोके लिए भीतर जो गुफा बनाई गई है उसकी परिधि १०० फुट है। 'पगोडा' (देवालय)मे प्रवेशके लिए ५ मार्ग है जिनमेसे प्रत्येकके समक्ष भगवान् अमिताभकी एक मूर्ति है। स्थापना-कक्षमे आधा टन चॉदी और चार हण्डरवेट पीतलके वजनकी भगवान् बुद्धकी मूर्ति ढालकर स्थापित की हुई है। इन बुद्धके पहलेके २८ बुद्धोंकी २८ सुनहली मूर्तियॉ ऊपरी चबूतरेपर स्थापित की गयी हैं।

'कबा एइ' पगोडाका महत्त्व अवशेषोकी स्थापनासे भी है। यहॉ भगवान् बुद्धके दो विशिष्ट शिष्यो 'सारि पुत्त' और 'महा-मोग्गालन'के पवित्र अवशेषके कुछ अंश स्थापित किये गये है। भारतके सॉची नामक स्थानमें तीन स्तूप है जिनमेसे एकमे

सन् १८४१ में जेनरल कनिंघमने उस अवशेषको पाये थे। ये अवशेष कुछ कालतक लन्दनके एक अजायबघरमें रखे हुए थे और भारत स्वतन्त्र होनेके बाद इन्हें वापस लिया गया तथा भारत-बर्मा और लंकामें इन्हें प्रदर्शनके लिए घुमाया गया।

'कबा एइ'का निर्माण कुछ ऐसी रीतिसे किया गया है कि विशेष अवसरोंपर जनता द्वारा पूजनके निमित्त अवशेषोंको खोलकर रखा जा सके।

महापासना गुफा

'कबा एइ' पगोडाके पड़ोसमें निर्मित विश्वकी इस महान् गुफाके निर्माणकी कहानी भी अद्भुत है। बर्मी प्रधान मन्त्री

महापासना गुफा

ऊ नू भारतके विभिन्न बौद्ध तीर्थोंका पर्यटन करते हुए जब बुद्ध गयामें पहुँचे तो वहाँ उन्होंने ध्यान-मग्न अवस्थामें एक गुफाके आकारका स्वप्न देखा। इस स्वप्नसे पूर्व वे राजगिरि स्थित

'सत्तपाणि' (सप्तवर्णी) गुफाकी यात्रा कर चुके थे और समाधिस्थ अवस्थामें उन्होंने उस गुफाको बर्मामें देश-देशान्तरसे आये हुए विद्वान् बुद्ध भिक्षुओंसे भरा हुआ देखा। ये भिक्षु वर्त्तमान समयमें युद्धकी विभीषिकासे जर्जर एवं आतंकित विश्वको शान्ति और प्रकाश प्रदान करनेके लिए भगवान् बुद्धके आदर्शोंका प्रचार करनेके लिए एकत्रित हुए थे।

तीर्थाटनसे बर्मा वापस आकर ऊ नूने समाधिस्थ अवस्थामें देखी गयी गुफाके आकार-प्रकारका वर्णन अपने एक विश्वास-पात्र अभियन्ता (इञ्जिनियर)से किया। और वैसी ही गुफाका नक्शा तैयार करके लानेका आदेश किया। अभियन्ता द्वारा तैयार किया गया चित्र निर्देशोंके अनुकूल था और गुफाके निर्माणका कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

यह गुफा ऐसे आकारकी बनायी गयी थी कि 'छठा बौद्ध संगायन' इससे सम्पन्न किया जा सके। यह 'संगायन' या 'संगीति' १७ मई सन् १९५४ को प्रारम्भ होकर सन् १९५६ में पूरे दो वर्ष बाद भगवान् बुद्धकी २ हजार ५ सौवीं जयन्ती मनानेके साथ समाप्त की गयी।

ऊपर उल्लिखित छठे संगायनसे पहले पाँच और संगायन सम्पादित किये जा चुके थे जिनके समय और स्थान इस प्रकार थे।

भगवान् बुद्धके महापरिनिर्वाणके तीन मास बाद प्रथम संगायन भारतके बिहार राज्यके राजगिरिकी गुफामें सम्पन्न किया गया था। यह सात मास तक चालू रहा। द्वितीय, ईसासे ४४३ वर्षों पूर्व वैशालीमें हुआ था। यह स्थान उत्तरी बिहारमें पड़ता है और इसे आजकल बसराल कहते हैं। इसका कार्य-क्रम आठ मास तक चलता रहा। तृतीय, बिहार प्रान्तके पाटलि-पुत्र नगरमें ईसासे ३०८ वर्षों पहले सम्पन्न किया गया था।

इसका अधिवेशन ९ मास तक चला। चतुर्थ, सिहल (लंका)के मलाया ग्राममें अवस्थित आलोक गुफामें ईसासे २९ से १३ वर्षों पहलेके आसपास सम्पूर्ण हुआ था। पाँचवाँ संगायन सन् १८७१ मे बर्माके तत्कालीन राजा मिंडनके संरक्षणमे माण्डलेमे सम्पन्न हुआ था। उक्त संगायनका कार्य सर्वाधिक आदर्श रहा। ७२९ शिलाखंडोंपर बौद्ध धर्मके विशिष्ट सिद्धान्त खोदे गये थे। ये शिलालेख छठे संगायनके निमित्त बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए।

सभी (संगायन) बौद्ध-धर्म ग्रन्थोके संशोधन, परिवर्द्धन अथवा नियम-वद्ध करने और इस धर्मके आदर्शोंके प्रचारके साधनोपर विचारके लिए बुलाये गये थे।

ऐसी गुफाये जो बौद्ध धर्मके आरम्भ कालके शिल्पी चमत्कारोको प्रमाणित करती हो भारतकी अजन्ता और एलोराके पर्वतीय क्षेत्रो तथा बर्मामे पगानमे पाई जाती है। किन्तु इस गुफाकी कारीगरीके समक्ष वे सभी फीकी लगती है।

छठा बुद्ध संगायन इस गुफामे सम्पन्न करना था इसलिए इसमे सुन्दरतम रीतिसे बने सुडौल ६ खम्भे खड़े किये गये हैं और ६ ही प्रवेश द्वार है। इस गुफाके निर्माणमे ७० लाख क्या (रुपये) का व्यय हुआ है। बाहर यह ४५५ फुट लम्बी और ३७० फुट चौड़ी है। भीतरका सभाकक्ष २२० फुट लम्बा और १४० फुट चौड़ा है।

निष्काम आर्थिक योगदानके अतिरिक्त विविध समुदायके ६३ हजार ५३३ व्यक्तियोसे सेवा-स्वरूप श्रमदान, ४ लाख ५० हजार १४५ घनफुट ईंटोके टुकड़ो, ६ लाख ७४ हजार ९७४ घनफुट चट्टानके पत्थरके टुकड़े, ५ लाख ५९ हजार ५७२ घनफुट नरम पत्थरके टुकड़े, ५ लाख ११ हजार ७५ घनफुट बालू, ११ हजार ९७३ टन सिमेण्ट (वज्रचूर्ण) ३८० टन इस्पात, ७७५ टन लकड़ीके

तख्ते और १२३ टन सागौन इस गुफाके निर्माणमें लगाये गये थे। सन् १९५३ के १ मार्चको विश्वकी इस अतुलनीय गुफाके निर्माणका श्रीगणेशकर सन् १९५४ की १० मईको इसे पूर्णता प्रदान की गई।

इस गुफाके सन्निकट ही एक ऐसे विद्यालयका निर्माण किया गया है जिसमें बौद्धधर्म और संस्कृतिके प्रचारकी शिक्षाकी व्यवस्था की गई है। इसमें प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशोंके छात्र भर्ती किये जाते हैं। इसकी नींव ऊ नू ने १९५४ के ३ अप्रैल को रखी थी।

: ६ :

तिलक-स्मारक और माण्डले

ब्रिटिश सरकारने भारतीय स्वतन्त्रता संग्रामके अनेक सेनानियोंको गिरफ्तार कर बर्माकी विविध जेलोंमें रखा था। इनमें लोकमान्य बालगंगाधर तिलकका नाम सर्वप्रथम एवं प्रमुख है। लोकमान्य जी भारतीय स्वतन्त्रताके मंत्रदाता थे। 'गीता-रहस्य' जैसे ग्रंथ रत्नकी रचना आपने बर्माके माण्डले जेलमे की थी।

गीता रहस्य ९ सौ पृष्ठोका महान् ग्रन्थ है। लोकमान्यजीने सन् १९१० की २ नवम्बरको इसे लिखनेका श्रीगणेश कर सन् १९११ की ३० मार्चको समाप्त किया था। इसके लेखन कालमे सहायक ग्रन्थोंकी नितान्त आवश्यकता थी। परन्तु सबको एक साथ जेलमें रखनेपर प्रतिबन्ध था और कोशिशे करनेपर एक बार चार पुस्तकें भीतर ले जानेकी सुविधा मिली। इस प्रकार चार-चार करके कुल ३५० से ४०० पुस्तकोंका सहारा लेकर लोकमान्यजीने इस कार्यको पूरा किया। पुस्तककी पाण्डुलिपि छुट्टा कागजोपर लिखनेपर भी सरकारी रोक थी। जिल्द बन्द कापियों पर लिखनेका आदेश मिला था। लिखनेमें स्याहीके प्रयोगपर भी प्रतिबन्ध था। पेन्सिलसे लिखनेकी अनुमति दी गई थी।

सन् १९१४ की ८ जूनको तिलकजीको जब कारावाससे मुक्ति मिली तो पुस्तक सरकारके पास ही रही। लोकमान्यजीके निजी शब्दोंमे व्यक्त की गई उत्सुकताके अनुसार वे पुस्तककी पाण्डुलिपि प्राप्त होनेकी आशा छोड़ चुके थे। परन्तु आवश्यक आवृत्तिके बाद वह वापस मिली। सन् १९१४ के गणेशोत्सवको

प्रारम्भ करके सन् १९१५ के जून मासतक वह मुद्रित की गई।

उपलब्ध उल्लेखोंमे बतलाया गया है कि लोकमान्यजीने गीता-रहस्यका मसविदा चार खण्डोंमे लिखा था। प्रथम तीनमें रहस्य और चतुर्थमें श्लोकोंके अनुवाद और प्रस्तावना थे।

माण्डलेके कारागृहके उस स्थल अथवा कक्षको जहाँ भारतीय स्वतन्त्रता संग्रामके प्रणेता लोकमान्य तिलकने निवास किया हो और 'गीता-रहस्य' जैसे ग्रंथ-रत्नका निर्माण किया गया हो यदि भारतीय जनता और सरकार महान्-तीर्थ सदृश सम्मान दें तो यथार्थ ही होगा। परन्तु इस तथ्यकी ओर पहले दीर्घकाल-तक किसीका ध्यान नहीं गया। सन् १९५५ के अगस्त मासमे जब एक भारतीय नेता श्री एस० के० पाटिल बर्मा भ्रमणके लिए आये तो आपने उस विशिष्ट स्थलको देखना चाहा जहाँ लोकमान्यजीने कारावास कालमे निवास किया था। आप माण्डले गये और अभीष्टकी सिद्धिमें सफल हुए। सम्प्रति बर्माके लिए भारतीय राजदूत महामहिम श्रीलालजी मेहरोत्राके निर्देशनमें "तिलक-स्मारक" का निर्माण हो गया है। इस स्मारकसे माण्डले-का गौरव और महत्व द्विगुणित हो गया है।

माण्डले बर्मी-साम्राज्यकी अन्तिम राजधानी थी। आज भी वह बर्मी संस्कृति और धर्मका विशिष्ट केन्द्र है। यहाँका राजमहल सम्पूर्ण एशियाकी दर्शनीय बस्तुओंमेसे एक था। परन्तु दुर्भाग्य-वश विश्व युद्ध कालमें वह ध्वस्त हो गया। माण्डले की पहाड़ी एक दूसरा ऐतिहासिक गौरवपूर्ण चिन्ह है। युद्धकालमे यह नगर वीरान हो गया था, किन्तु उसके बाद इसका कायाकल्प हुआ और अब यह निरन्तर प्रगति करता जा रहा है। 'सगाईका ऐतिहासिक पुल' और 'महामुनि पगोडा' जैसे दर्शनीय स्थान भी यहीं हैं।

माण्डलेमें कपड़ेकी बुनाईका अच्छा काम होता है। यहाँसे

चायकी पत्तियोंका वितरण विविध क्षेत्रों और नगरोको किया जाता है। शराब बनानेके कारखाने भी यहाँ हैं। यहाँका लकड़ी पर नकाशीकेकार्य अनुपम है। ऊपरी बर्मा और शानराज्यके व्यापारका यह केन्द्र है। माण्डलेकी भौगोलिक स्थिति कुछ कम मनमोहक नहीं है। शान प्रदेशकी पहाड़ियो और वेगवती इरावदी के मध्य यह बसा हुआ है। यहाँसे मेम्योका वह मनोरम नगर जहाँ ब्रिटिश शासन-कालमें गर्मीके दिनोमे गवर्नर रहा करते थे केवल ४२ मीलकी दूरीपर है। तिलक-स्मारक के निर्माणसे बर्मियो और भारतीयोकी संयुक्त-श्रद्धाका केन्द्र स्थल यह बन गया है।

: ७ :

बौद्ध-जगत् और डाक्टर सोनी

सन् १९४३ के फरवरी महीनेका एक सुहावना सवेरा था। जापानी छायामें संघटित शान्ति व्यवस्थापिका समितिने सन् १९४२ के मई मासमें जो व्यवस्था शिविर जियावडीमें स्थापित किया था अब वह एक थानेका रूप पा चुका था और लेखक उसके भवनके बरामदेमें बैठा सहकर्मियोंसे कुछ बातें कर रहा था कि इतनेमें एक स्वस्थ, सुडौल, सौम्यमूर्ति सामने आकर खड़ी हो गई और पूछा कि "तखिन-सेन गुप्तजी यहाँ कहाँ पर हैं" ? सेनगुप्तजी चन्द ही दिनों पहले रंगून चले आये थे। मैंने इस बातकी सूचना प्रश्नकर्त्ता-को देते हुए पास रखी हुई कुर्सीपर आसीन होनेके लिये निवेदन किया। आसनको सुशोभित करते हुए उन्होंने कहा "मेरा नाम डाक्टर सोनी है और मैं एक बुद्धिष्ट हूँ।" वस्तुतः, आपने बताया कि आप बौद्ध धर्मावलम्बी भारतीय हैं। भगवान

डॉ० आर० एल० सोनी

बुद्धके आदर्शोंमे आपकी आस्था है।" तब डाक्टर सोनीकी सेवा करनेका ३-४ दिनो तक अवसर मिला था। सत्संगका सच्चा सुख सुलभ होता रहा। आप रंगूनसे माण्डले जिलेके सिविलसर्जन नियुक्त होकर जा रहे थे और परिवहनकी युद्धकालिक असुविधाओंके कारण जियावडी रुक गये थे।

सन् १९४३ के बाद फिर आपसे मेरी दूसरी मुलाकात सन् १९५३ के मई मासमे हुई। दस वर्षोंकी अवधि छोटी नहीं होती। इतनेमें बच्चे तो जवान हो ही जाते है आपत्ति और संघर्षोंका सामना करनेवाले जवान भी बूढ़े दीख पड़ सकते है। एक दूसरे-की पहचानमें कठिनाईका अनुभव कर सकते है। किन्तु डाक्टर सोनी इसके अपवाद मिले। देखते ही प्रसन्न वदन मिले। माण्डलेमे मैं एक सप्ताह तक रहा और उनके सज्जनोचित व्यव-हारके अनेक उदाहरण देखनेको मिले।

सन् १९५३ के बादसे तो वर्षमें कमसे कम एक बार मुला-कात हो ही जाती है। हर बार कुछ नई बाते सीखता रहता हूँ, नवस्फूर्ति प्राप्त करता हूँ और उनके सम्बन्धकी कुछ नयी जान-कारी प्राप्त करता हूँ। सन् १९५७ के जून मासमें जब मिला तो उनकी फाइलोकी तरतीब देखकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदीके संस्मरणोमे लिखी गई कुछ बातोकी याद हो आई। आचार्यजीके सन्निकट रहनेवालोका उल्लेख है कि वे अपनी वर्षों पुरानी फाइलो और पुस्तकोको ऐसे करीनेसे सजाकर रखने-के आदी थे कि जब जिस फाइल अथवा पुस्तकको लेना चाहे सुगमतासे लिया जा सकता था। डा० साहबके पास 'माधुरी' और 'चॉद'की अबसे २२ वर्षों पुरानी फाइले ऐसी स्थितिमें मिलीं मानो वे हालमें ही सजाकर रखी गई हो। अपनी सर्व-श्रेष्ठ कृति 'दी बर्मीज एरा' जिसपर बर्माके भूतपूर्व प्रधान मन्त्री 'ऊ नू'ने दो शब्द लिखते हुए बर्माको एक नयी देन बतायाके साथ उन

फाइलोंको भी आपने मुझे सौंपा।

वे संस्थायें जिनकी सेवायें डाक्टर सोनी एक-न-एक पदपर रहकर करते आये हैं उनके व्यक्तित्वके बारेमें समय-समयपर विज्ञप्तियाँ प्रकाशित करती रही है। उन विज्ञप्तियोंके आधारपर डा० सोनीके जीवन वृत्तकी जो झांकियाँ मिल सकती हैं उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

माण्डलेके रोटरी क्लबने सन् १९५७ की एक विज्ञप्तिमें लिखा है "डाक्टर सोनीका व्यक्तित्व एक आदर्श व्यक्तित्व है। आपका व्यवसाय चिकित्सकका, आपकी मनोवृत्ति दार्शनिक की, आपकी शिक्षा वैज्ञानिक की, आपकी आदत लेखक की, आपका स्वभाव मानवतावादी और आपके सम्पर्क अन्तरराष्ट्रीय है तथा इस भाँति आप विद्वान्के रूपमें अग्रणी है। डा० सोनीने पर्याप्त देशाटन किया है। आपका अध्ययन गम्भीर और दृष्टिकोण व्यापक है। आपकी सूझें मौलिक होती है। क्लब ऐसे अध्यक्षपर निश्चय ही गर्व कर सकता है। आप वैज्ञानिक तो है ही दार्शनिक विचारधाराका भी आपमें प्रशंसनीय पुट है। सत्यके प्रतिनिष्ठाके साथ ही आपकी कर्तव्यपरायणता अनुकरणीय है। आप निष्काम कर्मके आदर्श है।"

डा० सोनीके पारिवारिक इतिहास और उनके निजी जीवनपर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि भारतके पंजाब प्रान्तके एक ख्यात नामा परिवारमें सन् १९०४ मे आपका जन्म हुआ। आपने बाल्यकाल यूरोप और पूर्वी अफ्रीकामें अपने पिताके साथ जो सरकारी डाक्टर थे, बिताया। लाहौरके किंग एडवर्ड कालेजसे आपने चिकित्सा की एम० बी० बी० एस० की परीक्षा पास की और सन् १९२९ में नवविवाहिता वधूको साथ लिये हुए 'मधुचन्द्रिका'की कुछ रातें बिताने आप बर्मा आये। यहाँके वातावरणसे आकर्षित होकर प्रोम जिलेके 'पॉउडे' नामक नगरमें बस

गये। आपने सन् १९३३ में भिक्षु ऊ लोक नाथासे बौद्ध-धर्मकी दीक्षा ली। थोड़े ही दिनोमें आपने अच्छी ख्याति अर्जित करली और नगर पालिकाके कमिश्नर तथा अस्पताल और सरकारी स्कूलकी प्रबन्धक समितियोंके सदस्य चुन लिये गये। 'पाउंडे' की वाचनालय समितिके भी आप अध्यक्ष निर्वाचित किये गये।

इस समय डाक्टर सोनी 'अपर बर्मा मेडिकल असोसियेशन'के स्थानापन्न अध्यक्ष हैं। आप सन् १९२९ से ही ब्रिटिश मेडिकल असोसियेशनके एक सदस्य हैं तथा लन्दन स्थित "कालेज ऑफ जेनरल प्रैक्टिशनर"के एक फाउण्डर मेम्बर हैं। भारत, ब्रिटेन तथा बर्माके अनेक मेडिकल पत्रोमें आप लिखते रहते हैं। अनेक विदेशी संस्थाओसे एक-न-एक रूपसे डाक्टर सोनीका सम्पर्क है। आप "दी लाइट ऑफ बुद्धा" नामक मासिक पत्रिकाके सम्पादक मण्डलके एक सदस्य हैं। आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं और अनेक पत्रोको लेख भेजते रहते हैं। बौद्ध-संसारमें आप एक अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिके नेता हैं। "वर्ल्डफेलोशिप आप बुद्धिस्ट्स" संस्थाके आप एक विशेष सलाहकार तथा 'वर्ल्ड इन्स्टिट्यूट ऑफ बुद्धिस्ट कल्चर' माण्डलेके जन्मदाता और प्रमुख संचालक है। इस संस्थाका सम्पर्क अखिल विश्वके हर भागसे है।

आप सम्पूर्ण एशियाकी सांस्कृतिक एकताके समर्थक हैं। सन् १९५६ में पाकिस्तानमें मनाई जानेवाली २५०० वीं जयन्ती समारोहके लिए डा० सोनीको सभापति निर्वाचित किया गया था, यह प्रसंग इस बातकी पुष्टि करता है कि बर्मासे बाहर आपका कितना सम्मान है।

सन् १९५० मे लंकाकी राजधानी कोलम्बोमें होनेवाले प्रथम

विश्वबौद्ध मतावलम्बी सम्मेलनमे भाग लेनेके लिये आप बर्मी प्रतिनिधि मंडलके उपनेता होकर गये थे। वहाँ आपने २९ राष्ट्रोंके बौद्ध मतावलम्बी प्रतिनिधियोकी समितिका सभापतित्व किया था।

: ८ :

आर्य-संस्कृति और आर्यसमाज

पुस्तकके आरम्भसे लेकर अबतक अनेक उन संस्थाओ और व्यक्तियोके कार्योंके उल्लेख होते आये है जिन्हे बर्मामे आर्य-संस्कृतिके प्रचार एवं संरक्षणका यश मिलना चाहिये। इस अध्यायमे उस संस्थाके इतिहास तथा कार्योका वर्णन प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया जा रहा है जिसका प्रचारक्षेत्र आज भी अपेक्षाकृत सर्वाधिक व्यापक और स्वरूप सजीव दीखता है। वह है महर्षि दयानन्दके अनुयायियोकी संस्था 'आर्य-समाज'। बर्मा ऐसा देश है जहाँ चिरकालसे अनेक संस्कृतियाँ और धर्म स्वतन्त्र रूपसे पलते आ रहे हैं। यहाँकी मूल संस्कृति बर्मी है, जिसपर भारतीय संस्कृतिकी निश्चित रूपसे छाप पड़ी हुई है तो चीनी सीमास्थलीय जातियाँ चीनी संस्कृतिके प्रभावसे भी बची नहीं मानी जा सकती। यदि यह देश बौद्धोंका है तो इस्लाम और ईसाई धर्मावलम्बी भी निरन्तर उन्नति करते जा रहे है। इस प्रकार यह कहना कदाचित् अनुचित न माना जाना चाहिये कि यहाँ पलते प्रत्येक धर्म और संस्कृति एक न एक दिशामे चुनौतीसे खाली नही है और आर्य-धर्म तथा संस्कृति तो एक प्रकारसे खतरेके बीचसे गुजर रही है। हाँ, इस खतरेके लिए आर्य-धर्मावलम्वी किसीको उलाहना भी देनेके अधिकारी नहीं है क्योकि कुछ तो परिस्थितिका दोष है और कुछ प्रारब्ध तथा उनके अपने कर्त्तव्योका। जबतक बर्मा भारतका एक अंग बना रहा यहाँके आर्योंको सांस्कृतिक उद्बोधन मूलरूपसे भारत स्थित

संस्थाओं और वहाँसे आनेवाले प्रचारको द्वारा मिलता रहा। यहाँके निवासियोंने कभी सोचा ही नहीं कि उन्हें इसके लिए स्वावलम्बी होना पड़ेगा। अन्य जातियाँ इस क्षेत्रमें सर्वथा जागरूक रहीं। बर्माके पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र हो जानेके बाद यहाँ पीढ़ियोंसे बसे वे भारतीय जो यहाँ रहनेके सब प्रकारसे राजनीतिक अधिकारी हैं भौतिक साधनोका तो अर्जन कर लेते हैं परन्तु आध्यात्मिक पिपासा की शान्तिके लिए भारतकी ओर ही आशा भरी दृष्टिसे देखा करते है, जहाँसे सहारा मिलना अब असम्भव है। ऐसी स्थितिमे यदि कोई ऐसी संस्था बर्मा मे है जिसकी ओर भारतीय इस आशा भरी दृष्टिसे देख सकते है कि वह इस चुनौतीको महसूस करे तो वह है 'आर्य समाज'। यह बात दूसरी है कि बर्माके किसी-किसी नगरके 'आर्य-समाज' बिलकुल निष्क्रिय हो गये हैं। प्रमाण स्वरूप किसी आर्यसमाजका साइनबोर्ड भर दिखाई देता है और किसी आर्य-समाजके भवनका अस्तित्व ही खतरेमे है तथा कहीं आर्य-समाजका नामभर सुना जाता है। ठीक इससे विपरीत मोगोक, लाश्यो, मेम्यो, मचीना और येनाङ्गाऊँ आदिके समाजोंको उत्तरोत्तर बहुमुखी प्रगति करते पाया जाता है और रंगून तथा माण्डलेके आर्य-समाज तो संतोषप्रद प्रगति करते दीखते हैं। माण्डलेमे आर्य समाजके अन्तर्गत कन्या विद्यालय तीन वर्षो पहलेसे चल रहा था और अब रंगूनके डी० ए० बी० स्कूलमें भी कन्या महाविद्यालयके संचालनकी व्यवस्था कर दी गयी है।

बर्मामें आर्य समाजकी स्थापना लगभग १९०४-१९०५ मे हुई। तत्कालीन भारत-बर्मा सरकारकी नौकरीमें आये हुए अनेक उत्तर भारतीय, विशेषतया पंजाब प्रांतके लोग, आर्य-समाज का झण्डा साथ लाये। इनमें रेल, डाक, मिलिटरी, परिवहन और यातायात आदि विभागोंमें नौकरी करनेवाले व्यक्ति थे। कुछ

ठेकेदार, वकील, डाक्टर और व्यापारी भी थे। ब्रह्मदेशके जिस-जिस स्थानमे ये लोग गये धीरे-धीरे वहाँ एक आर्य-समाजकी स्थापना हो गई। सर्व प्रथम रंगून और माण्डलेमें 'आर्य-समाज' स्थापित हुए और शनैः-शनैः लगभग १६ अन्य नगरोमें भी आर्य-समाजकी स्थापना हुई। सन् १९४१ मे कुल १८ 'आर्य-समाजों'के होनेका विवरण प्राप्त होता है। उन सबका केन्द्रीयकरण करनेके लिए सन् १९३४ में अखिल ब्रह्मदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभाकी स्थापना हुई और यह प्रतिनिधि सभा आर्य सार्वदेशिक सभा दिल्लीसे सम्बन्धित थी।

अनेक आर्य समाजके अपने भवन थे। कुछके तो बड़े सुन्दर और भव्य रहे। रंगून तथा माण्डलेके चार समाज-भवन तिमंजिले और बड़े सुन्दर हैं। मचीनामें भी युद्धके पश्चात् सुन्दर भवन बन गया है। मेम्यो, लाश्यो और एनन्जॉवकी समाजोके अपने भवन है। मोगोकके आर्य समाजका भवन तो सन् १९५४ मे नवनिर्मित हुआ है जो अपेक्षाकृत अति सुन्दर है। प्रत्येक आर्य समाजमे 'साप्ताहिक सत्संग' होते हैं जिनमे वेद मन्त्रो द्वारा हवन-प्रार्थना और कथा होती है। व्याख्यान-प्रवचन और भजन भी नियमसे होते हैं। इन सब कार्योंका माध्यय हिन्दी भाषा है। अतः प्रत्येक आर्य समाज बर्मामें हिन्दी प्रचारके केन्द्रका भी काम देता है। लगभग हर आर्य समाजके साथ छोटा-बड़ा एक पुस्तकालय भी है। इनमें वैदिक धर्म सम्बन्धी साहित्य तथा आर्य समाचार-पत्र आते है। युद्धपूर्व कालमें लगभग प्रत्येक आर्य-समाजके अन्तर्गत एक पाठशाला थी। प्राइमरी (प्राथमिक) शिक्षा श्वेवो, लाश्यो, मचीना, मोगोक, येनान्जॉउ और बसीन, आदि स्थानोकी पाठशालाओमे दी जाती थी। मेम्यो, माण्डले, रंगूनमें उच्च-कक्षाओकी पढ़ाई होती रही। माण्डलेका डी० ए० वी० विद्यालय सन् १९१६-१७ में स्थापित हुआ और १९२६-२७ तक

वह हाईस्कूल हो गया था। रंगूनका डी० ए० वी० स्कूल १९२५-२६ में खुला तथा दो ही वर्षोंमें मिडिलतक हो गया था। इन पाठशालाओंके साथ कन्या पाठशालाएँ भी थीं, जहाँ लड़कियोंकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध था।

रंगूनमें एक रात्रि पाठशाला भी थी जिसका प्रबन्ध स्थानीय 'आर्य-कुमार-सभा' के अधीन था। इसमें मिडिल तक की पढ़ाई का प्रबन्ध था। इसके संचालकोंमें सर्व श्रीगौतम भारद्वाज, पल्टूसिंह, रामप्रसादसिंह, रामराजसिंह, बलभद्रजी, आदिका मुख्य हाथ था। हिन्दी प्राथमिक ट्रेनिंग कक्षा, बर्मा सरकारके शिक्षा विभागकी अनुमति प्राप्त होनेपर रंगून डी० ए० वी० स्कूलके संरक्षणमें सन् १९३८ में आरम्भ की गई। प्रतिवर्ष २० छात्राध्यापक प्राथमिक ट्रेनिंगके लिये तैयार किये जाते थे। यह कक्षा सन् १९४१ तक चलती रही और युद्ध आरम्भ होनेपर स्थगित कर दी गई। वैसे तो प्रति २-४ महीनोंमें भारतसे कोई न कोई विद्वान् व्याख्याता, भजनोपदेशक या प्रचारक मण्डल प्रचार करनेके निमित्त यहाँ आता रहता था इनके अतिरिक्त दान इकट्ठा करनेवाले भी आते थे और वे लोग घूम-घूमकर बर्मामें वैदिक धर्म और हिन्दी-भाषाका प्रचार करते थे। इस प्रकार बर्मामें आर्य समाजके कारण निम्नोक्त व्यक्तियोंका आना हुआ। श्रीस्वामी श्रद्धानन्दजी, श्रीलाला लाजपतराय, श्रीसुरेन्द्र शास्त्री, श्रीचान्दकरण शारदा, मेहता, जैमिनी, श्रीसत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, श्रीसुखदेव विद्यावाचस्पति, श्रीमौलवी महेशप्रसाद 'आलिम-फाजिल' डाक्टर लक्ष्मणस्वरूपजी, पं० सुधाकरजी, पं० गंगा-प्रसादजी उपाध्याय, पं० विद्याव्रत शास्त्री, पं० परमानन्दजी, पं० मूलानन्दजी, स्वामीपूर्णानन्दजी और श्रीकन्हैयालाल मिश्र, आदि।

आर्य-समाजकी ओरसे कोई विशेष साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ था। बर्मी भाषामें "सत्यार्थ-प्रकाश" का अनुवाद आरम्भ

किया गया था। परन्तु युद्धकालमे पाण्डुलिपिके नष्ट हो जानेके कारण अधूरा रह गया। अब दुबारा अनूदित होकर प्रकाशन किये जानेका प्रयत्न हुआ है। बर्मामे आर्य समाजके प्रमुख व्यक्ति सर्व श्रीगुरुदत्त सरीन, जी० एम० हालकर देवजी भाई, जी० एस० भारद्वाज, आत्माराम, जगतराम, वसन्तरामजी, देवीचन्दशर्मा, रामदेवजी लाट, ईश्वरदास, बधावामल, रामप्रसाद सिंह, लालासेवाराम, नेवराज तलवार, मुकुन्देलाल लोधीजी, श्यामसुन्दर, पं० रामरक्षामल, गौतम भारद्वाज, ओ३म्‌प्रकाशजी, गोपालदासजी, अमरनाथशर्मा, साईदासजी, भास्करानन्द गिरि, लुम्बाजी, तेजसिंहजी, हंसराज, नन्दलालजी, निजानन्दजी और सेठीजी आदि हैं।

युद्धके बाद सन् १९५२ के १४ अप्रेलको माण्डलेके बाबूरोडमे अवस्थित आर्य-समाज भवनमे आर्य प्रतिनिधि सभाकी पुर्न-स्थापना की गयी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्लीके एक नेता श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए० के संरक्षण और माण्डले आर्य-समाजके एक वयोवृद्ध कार्यकर्त्ता डाक्टर देवीचन्द शर्माके सभापतित्वमे यह कार्य सम्पन्न हुआ। इस सभाके लिए रंगूनकी आर्य-समाजकी ओरसे श्री गुरुदत्त सरीन, डाक्टर ओम्‌प्रकाश, डा० एस० एल० लुम्बा और सर्वश्री देशराज वर्मा, शिवधारी शुक्ल, एम० जी० शाह, रामरक्षा तिवारी, स्वामी नादन जी, रामदास क्षेत्रपाल और मानिकचन्द, माण्डलेसे डी० सी० शर्मा, रामलाल गुलाटी, जी०एल० चोपड़ा, बी० एल०खट्टर, जी० डी० गान्धा, नरेन्द्रनाथ, शादीलाल, कृष्णलाल कालड़ा, डी० डी० गोलर, प्रेमनाथ गुलाटी, हंसलाल और शिवलाल बर्मा, मेम्योसे सर्वश्री मेलाराम गांधा, चन्द्रवर्मा और कुन्दन सिंह रावत, कलौसे, श्री जी० पटेल, मचीनासे ज्ञानचन्द ओरी, येनान्जॉवसे मेघराजजी और वसीनसे सर्वश्री जमादार सिंह, जे०

राम, रामनारायण और रामनिहोर चौधरीके नाम प्रतिनिधित्वके लिए आये थे। इन नामोंकी संख्या ३२ होती है परन्तु स्थापना सभामें १३ ही उपस्थित थे।

सभाने निश्चय किया कि प्रतिनिधि सभाकी एक कार्यकारिणी गठित कर ली जाय और उसका संघटन निम्न प्रकार किया गया।

प्रधान डाक्टर डी० सी० शर्मा, उप प्रधान डा० गुरुदत्त सरीन और पंडित मेलाराम गान्धा, मन्त्री डा० ओ३म् प्रकाश, उपमंत्री श्री रामलाल गुलाटी, कोषाध्यक्ष श्री रामदास क्षेत्रपाल, आय-व्यय निरीक्षक—श्री शिवलाल बर्मा और सदस्यगण सर्वश्री मेघराज, ज्ञानचन्द ओरी, जमादार सिंह और देशराज बर्मा निर्वाचित हुए। यही कार्यकारिणी अबतक कार्य करती आ रही है।

बर्माके आर्य-समाजके अन्तर्गत आर्य-स्त्री समाजका भी संघटन है। सन् १९२५-२६ मे रंगूनमे आर्य-स्त्री समाजकी स्थापना हुई। इसके सङ्गठनका प्रमुख श्रेय श्रीमती शान्तिदेवी सरीन तथा पण्डिता द्रौपदी देवी शास्त्रीको है। इसके बाद श्रीमती प्रभावती देवीके भारतसे आ जानेपर कार्य और सुन्दर रीतिसे चलने लगा। आर्य-कन्या पाठशालाकी स्थापना हुई। बादमें यही कन्या पाठशाला नये रूप और नये प्रबन्धमें शारदा सदन स्कूल बन गया।

युद्धोपरान्त रंगूनमें आर्य-स्त्री समाजकी पुनस्स्थापना १९४८मे हुई। पुनस्स्थापनाका श्रेय श्रीमती नन्दरानी देवी तथा श्रीमती कौशल्या देवीको है। बादको श्रीमती लुम्बा तथा श्रीमती सत्यभाषिणी देवीका भी सहयोग प्राप्त हुआ और संस्था भली प्रकार चल रही है। माण्डलेमें भी युद्धके पूर्व स्त्री-समाज था। श्रीमती डी० सी० शर्मा इसकी मुख्य कार्यकर्त्री थीं। आज भी जिन-जिन नगरोंके आर्य समाज सक्रिय हैं वहाँ आर्य स्त्री-समाज भी हैं।

: ९ :

बर्मा के नेपाली और गोरखा

बर्मामें नेपालियोंकी सबसे बड़ी संख्या मचीना क्षेत्रमे है। यहाॅ अनुमानतः २० हजार नेपाली हैं। अंग्रेजी सेना के साथ इनका आना बताया जाता है। सन् १८९० के लगभग अंग्रेजोंने मचीनापर कब्जा किया और उसी समयसे वहाॅ नेपालियोंका भी बसना शुरू हो गया। उस क्षेत्रकी तात्कालिक स्थितिके संबंध में बताया जाता है कि नदीके दाहिने तटपर मचीना बसा हुआ था और बायें तटपर कछिनोकी बस्तियाॅ थीं। मचीना तब एक छोटा-सा नगर था। ईरावदी नदीका पाट भी तब बहुत सॅकरा था। इतना सॅंकरा कि दोनो किनारोंके विशाल वृक्षोकी डाले परस्पर छू जाती थीं। नदीके इस तटपर अंग्रेजी कब्जा होना कछिनोंको बर्दाश्त नहीं हुआ। उन्होने इस पारकी फौजी टुकड़ियोंपर बन्दूकोंकी बौछारके साथ बार-बार हमला करना शुरू कर दिया। एक तो नदीका सुहावना तट, दूसरे शिकार खेलने योग्य बन और तीसरे कछिनोंके मुकाबलेके लिये समुचित स्थल पाकर अंग्रेजोने यहाॅ विशेष रूपसे सैनिक अड्डा बना दिया।

अंग्रेजी सेनाके साथ आये नेपाली सैनिकोमेंसे अनेक अवकाश प्राप्त वहीं बस गये और कृषि तथा पशु-पालनका काम करने में लगते गये। वे वहाॅ बसनेवाली आदि वासी जन-जातियोंसे तो पशु खरीदते ही थे मनीपुरकी राहसे भारत जाना भी उन लोगोंके लिये मुश्किल न था। वे भारतसे भी भैंसें तथा गायें खरीदकर लाते रहे। ऐसा बताया जाता है कि उस क्षेत्रके आदि-वासी

बर्मी गायो और भैंसोंका दूध निकालना तक नही जानते थे। नेपालियोंने उन्हें इसका तरीका बताया।

रंगूनसे माण्डले तककी रेलवे लाइन पहलेसे चालू हो चुकी थी, परन्तु उस क्षेत्रमें धीरे-धीरे माण्डलेसे सगाई, श्वेबो, एठॉव, नव्बा और मोगॉव होते हुए आगे तैयारकी गयी। मचीना उक्त क्षेत्रका अन्तिम स्टेशन है।

कछिन राज्यके अन्य स्थानो मोगॉव, मोइयन, कत्था और भामोमें भी नेपाली बसते है किन्तु यहॉ इनकी आबादी साधारण है। बर्माके अन्य नगरो मोगोक, नाम्टू, लाश्यो, मेम्यो, लोइलम, टौंजी, श्वेयांग, हेहो, आंगबान, कलौ और सितांग, आदि, क्षेत्रोंमे भी नेपाली अच्छी संख्यामे पाये जाते है। टॉगूसे मोची-माइन होकर टौजी जानेवाले मार्गमें भी नेपालियोकी बस्तियाँ छिट फुट मिलती हैं। निचले बर्मामें नेपालियोकी साधारण आबादी है।

पूरे बर्मामे नेपालियोंकी निश्चित् जन-संख्या अबतक नही ज्ञात की जा सकी है। अनुमानतः १ लाखके आसपास इनकी संख्या है। लगभग २५ हजार कछिन राज्यमे, २० हजार तक मेम्यो क्षेत्रमे, १० हजारसे १२ हजार तक मोगोक और उसके पास पड़ोसमे। ५ हजारके लगभग नाम्टू और लाश्यो तथा २५ हजार के करीब सम्पूर्ण दक्षिणी शानराज्यमे नेपालियोके होनेका अनु-मान है। इसके अतिरिक्त टॉगू क्षेत्र और डेल्टामे भी लगभग १० हजार नेपाली होगे। मचीनाकी भॉति इन स्थानोमें भी अधिकांशतः ये अंग्रेजी सेनाके साथ ही पहले पहल पहुँचे। पीछे तो अन्य विदेशियोकी भॉति नेपालियोका भी आना जीविको-पार्जनके लिये ही जारी रहा। जिस प्रकार बर्माकी चौतगा और जियावडीकी जागीरोंका दर्शन करने पर हठात भारतके बिहार क्षेत्रके ग्रामांचलका आभास मिलता है उसी तरह नेपाली

बस्तियोंको देखकर नेपालके गाँवोकी स्थितिका भान हो सकता है। बर्माके पहाड़ी क्षेत्रोंकी जलवायु और भूमि नेपालियोंके रहने तथा जीवन व्यापार (पशुपालन और कृषि) के अनुकूल होनेके कारण ये अधिकांशतः वहीं बसे हुए हैं।

बर्माके नेपालियोंने स्वदेशकी अपनी किसी परम्पराका, चाहे वे अच्छी हो अथवा बुरी, परिपूर्ण त्याग नहीं किया है। इनमे वर्ण-व्यवस्था अभी पूरी तरह कायम है। संस्कृतके जितने अधिक विद्वान् बर्मामे केवल नेपाली समुदायमे मिलते है, उतने शायद बर्मामे भारतके अन्य सभी प्रदेशोंके निवासियोको मिलाकर होगे। इनका कार्य यजनयाजनका है। कृषक और पशु पालक नेपाली इन्हे आदरकी दृष्टिसे देखते है। नेपालियोमे यहाँ भी वीरत्वकी भावना विद्यमान है। इनके कुछ ग्राम ऐसे क्षेत्रोमे बसे है जहाँ जंगली जातियोके आक्रमणका सर्वदा भय बना रहता है। परन्तु ये रंचमात्र भी विचलित नहीं होते, चाहे अत्यल्प संख्यक क्यो न हो और भले ही बन्दूक लेकर रात-रात भर पहरा देना पड़ता हो। प्राचीन कालकी भाँति बलिकी प्रथा आज भी इनके यहाँ प्रचलित है। दशहरे (विजयादशमी) का पर्व माननेके समय यहाँके नेपाली बहुसंख्यक बकरो और भैसो की बलि देते हैं। नेपालियोमें दशहरा बड़े उत्साहके साथ मनाया जाता है। इस अवसर पर नाच गाना और नाटक इत्यादि होते है और कहीं-कही नर्तक प्रेमी मण्डलियाँ स्वयं नाटक अभिनीत करनेके अतिरिक्त मनीपुरी अथवा अन्य नर्तकियाँ भी बुलायी जाती है।

नेपालियोमे बाल विवाहकी प्रथा अब भी है, किन्तु उत्तरोत्तर सुधार दीख पड़ता है। एक वृद्ध नेपाली ब्राह्मणने नेपालमे चालू बाल-विवाहकी बाबत चर्चा करते हुए लेखकको एक बार बताया कि वे और उनके १७ साथी नेपालमें बाल्यकालमे ही विवाह

करके बर्मा चले आये थे और १२-१३ वर्षों बाद जब दुलहने सयानी हुईं तो सभी दुलहे अपनी पत्नियोंको लाने जा नहीं सकते थे। फलस्वरूप एक सज्जन अकेले जाकर शेष सत्रहकी भी दुलहने, कुल अठारहको एक साथ ले आये। जब रंगून जटीपर जहाज लगा और दुलहनें उतरीं तो दुलहे प्रतीक्षामें थे। अब, एक-एक-की ठीक जोड़ी लगानेका काम भी कुछ कम टेढ़ा नहीं था। नेपाल जाकर दुलहनोंको लानेवाले सज्जनने नेपालमें प्राप्त जानकारीके आधारपर जोड़ियाँ मिलायीं। इस हदतक तो नहीं फिर भी एक दर्जतक तो बर्माके नेपालियोंमें भी बाल-विवाहकी कुप्रथा चालू है। इनमें अशिक्षा और दैन्य भी है। सम्पत्तिशाली इने-गिने ही हैं। आरम्भमें बर्मी नेपालियोंकी एकमात्र प्रतिनिधि संस्था 'अखिल बर्मा नेपाली संघ' था। इसके अध्यक्ष श्री अतरसिंह, एम० एस० सी० और मंत्री श्री मन बहादुर लिम्बू थे। बादमें नेपाली नेताओंमें मतभेद होगया और नेपालियोंकी दो संस्थाएँ बन गयीं। स्वतन्त्र बर्माके लिये नेपालके वाणिज्य दूतकी नियुक्ति होनेपर प्रथम वाणिज्य दूत श्री प्रकाशचन्द्र ठाकुर और उनके बाद श्री दिल्ली बहादुर वस्नेत आये। वर्त्तमान वाणिज्य दूत श्री जी० बी० एक्तुम्बा है। बर्मा निवासी नेपालियोंमें परस्पर फूटके फल-स्वरूप नेपाल सरकारके वाणिज्य दूतोंको अपने दायित्व निभानेमें काफी कठिनाई रहती है।

नेपाली दो संस्थाएँ बन जाने पर एकका नाम अखिल बर्मा गोरखा संघ और दूसरीका अखिल बर्मा नेपाली संघ रखा गया। गोरखा संघके अध्यक्ष नेपाली संघके भूतपूर्व अध्यक्ष श्री अतरसिंह हैं और नेपाली-संघके' अध्यक्ष भूतपूर्वमें ही श्रीमनब-हादुर लिम्बू हुए।

नेपाली कौम अपनी जिस कर्त्तव्य परायणता और वफादरीके लिए सर्वदा सर्वत्र प्रसिद्ध रही है, उसकी साख बर्मामें भी कायम

है। सन् १९४८ के मार्च मासमें कम्युनिस्टों और लगभग साल ही भर बाद सन् १९४९ के जनवरीमें करेनोंकी क्रान्ति प्रारम्भ होनेपर बर्मा सरकारने नेपाली-सैनिकोंको फौजमें भर्ती करना शुरू किया। इस समय तो बर्मा सरकारके सेना विभागमें एक गोरखा रेजीमेन्ट ही अलग खड़ा कर दिया गया है। इनकी वफादारीमें बर्मा सरकारकी पूरी आस्था है। भूतपूर्व प्रधान मन्त्री ऊनू अपना अंगरक्षक अधिकांशतः नेपाली सैनिकोंको ही रखना पसन्द करते रहे, ऐसी जनश्रुति है।

नेपालियोंने बर्मी राष्ट्रकी जैसी सामयिक सेवा की थी वह यहाँके राजनीतिक इतिहासमें अमिट स्थान रखती है। बर्मा सरकारकी ओरसे उनकी सक्रिय आंशिक मान्यता तो आज भी पाई जाती है परन्तु नेपालियोंमें परस्पर मतभेद पैदा हो जानेके कारण इनके हितोंको महान आघात पहुँचा है।

श्री अत्तरसिंह

गोरखा संघके अध्यक्ष श्री अत्तरसिंह और नेपाली संघके अध्यक्ष श्री मनबहादुर लिम्बू दोनों ही मचीना निवासी हैं। सर्व श्री अनिरुद्ध शर्मा और टंकेश्वर शर्मा (भामो), टोपनारायण शर्मा, रामचन्द्र ज्योतिषी और केहर सिंह (मोगोक), लीला सिंह और धनञ्जय शर्मा (नाम्टू), रघुनाथ शर्मा (चौमे), नरबहादुर गुरुंग (लाश्यो), इन्द्रबहादुर सिंह, कमलाकान्त शर्मा नांछो, एस० बी० लामा और भुवन ध्वज राई (मेम्यो), कृष्णबहादुर

क्षत्रिय, गम सिंह लिम्बू, सुकबहादुर गोन्डेन, पूर्णानन्द शर्मा और हिमलाल शर्मा, (लोइलम) तुलसीराम शर्मा, गंगा सिंह वस्नेत, डी० बी० थामा, रविलाल शर्मा, जगबहादुर सुब्बा और धनबहादुर सुब्बा, टौजी, चूड़ामणि शर्मा, कमलापति शर्मा और महा शर्मा (श्वेयांग) धनबहादुर प्रधान (आंगवान), धनबहादुर (फोटोग्राफर) लालबहादुर थामा, सुकबहादुर गुरुंग और मंगलप्रसाद शर्मा इत्यादि, बर्माके भिन्न-भिन्न नगरो के सार्वजनिक कार्यकर्ता है। रंगूनमे सर्व श्री बी० बी० तामांग, सी० बी० सिंह, डी० आर० शर्मा और गिरिबहादुर झवाली आदि नेपाली समुदायमे अग्रणी है।

इस सम्प्रदायमे कभी-कभी मतभेद इतना उग्र रूप ले लेता है कि "नेपाली" और "गोरखा" शब्दोको लेकर ये झगड़ जाते है, यद्यपि ऐसी बातोपर झगड़ना निरर्थक है।

नेपाली संघकी स्थापना सन् १९४७ की २७ मईको कछिनराज्यके मुख्य नगर मचीनामें की गयी थी। इसकी स्थापनासे पूव उसी वर्ष १२ अप्रैलको एक बैठक मेम्योमे हुई थी जिसमें अखिल बर्मीय स्तरपर नेपालियोकी एक संस्थाके गठनका निश्चय किया गया था। इस बैठकमें कतिपय नेपाली नेताओके अतिरिक्त बर्मी स्वतन्त्रताके जनक स्वर्गीय ऊ आंग सॉ, ऊ नू, भूतपूर्व गृहमन्त्री बोखिन मांगले-कछिन राज्यके सर्व प्रमुख नेता सिमाडुआ सिन्नानांग, मांग पोगके सोबवा और सीमास्थलीय जॉच कमीशनके नेता मेजर शानलोन भी उपस्थित थे।

नेपाली नेताओंकी ओरसे बर्मा सरकारसे की गयी मॉगोंमे सर्वप्रथम और सर्वाधिक जोरदार मॉग यह थी कि "नेपालियोको बर्मियोके समकक्ष ही नागरिकताका हक दिया जाय।" यह मॉग उत्तरोत्तर जोर ही पकड़ती गयी परन्तु इसी बीच नेपालियोंमें पारस्परिक विरोध उपस्थित हो जानेके कारण यह मॉग दब गयी।

नेपाली संघकी शाखा मचीना, मोइयन, मोगॉव, नाम्टी, कमाइन, श्वेगू, कथा, भामो, नाम्टू, लाश्यो, कुटखाई, नांछो, चौमे, मोगोक, लोइलम, टौंजी, कलौ, सिटांग, टॉगू, तांडांग और रंगूनमे थी तथा प्रत्येक क्षेत्रमे जन-जागरणका बहुमुखी कार्य चालू था परन्तु आपसी फूटके परिणामस्वरूप अखिल बर्मा गोरखा संघका प्रादुर्भाव हो गया जिससे शक्ति बॅट गयी।

नेपाली सङ्घका प्रधान कार्यालय निरन्तर दस वर्षोंतक मचीनामें ही था जिसके परिणाम स्वरूप वहॉके लगभग शत-प्रतिशत बालिग नेपालियोने बर्मी नागरिकताके लिए आवेदनपत्र दे दिया है इसकी मान्यता की भी पूर्ण आशा की जा रही है।

जिन-जिन स्थानोमे नेपाली सङ्घकी शाखाये है लगभग उन सभी स्थानोमे अखिल वर्मा गोरखा सङ्घकी शाखाओ की भी स्थापना की जा चुकी है। गोरखा सङ्घ के अध्यक्ष श्री अतरसिह, एम० एस० सी० है। आप मांडलेके युनिवर्सिटी कालेजके केमिस्ट्री विभागके प्रधानाचार्य है। आप सरल स्वभाव और कुशाग्र बुद्धि-के सेवापरायण ब्यक्ति है! आपके नेतृत्वमे गोरखासंघ प्रगति पथपर और सेवा-रत है।

: १० :

बर्मी पर्व

हिन्दी शब्दकोशकारोने "पर्व"का अनेक शब्दार्थ बताया है जिनमे पुण्य या धर्म-काल अथवा उत्सवके दिन भी सम्मिलित हैं। बर्मी कौम इन अर्थोंकी सार्थकता कहाँ तक निभाती पाई जाती है इसका यथा सम्भव विवेचन करना ही "बर्मी-पर्व" शीर्षकसे यह अध्याय लिखनेका अभिप्राय है।

बर्मियोंमें अभी भी कुछ ऐसे पिछड़े हुए ग्रामीण है जो किसी भी धर्ममें आस्था नही रखते। वे धार्मिक नियमो और रीतियोंको निभाना बखेड़ा समझकर ऐसा नही करते बल्कि धर्मके महत्त्व-को ही वे नहीं जानते। निरे जंगली है। अंग्रेजीमे उन्हे एनीमिस्ट (Animist) कहा जाता है। कुछ शिक्षित और अर्ध अथवा अशिक्षित बर्मी ईसाई धर्मको भी मानने वाले है। शेष बौद्धधर्मा-वलम्बी है।

भगवान् तथागतके उपदेशोंके चार मूलाधार थेः— (१) दुःख (२) दुःखके कारण (३) दुःखनिवारण और (४) दुःखनिवारणके साधन। दुःख क्यों होता है इसकी व्याख्यामें आप बताते थे कि बार-बार मनुष्य जीवन पाना ही दुःखका हेतु है। और यह दुःख (मनुष्य जीवन) क्यों मिलता है। इसपर प्रकाश डालते हुए आप कहते थे कि जब सांसारिक वस्तुओसे अनुराग होगा तो संसार मे आवागमन भी लगा रहेगा। इससे मुक्त होनेके लिये आपने अष्टांगिक मार्ग बताया है! (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाक्य (४) सम्यक् आजीव (५) सम्यक् व्यायाम (६) सम्यक् स्मृति और (७) सम्यक् समाधि।

आठवाँ मार्ग सम्यक् कर्मान्त है।

किसी भी जीवकी हत्याका वे निषेध बताते थे। चोरी, झूठ, परनिंदा, मद्यपान और व्यभिचारसे वे मनुष्योंको रोकते थे। कर्मकी प्रधानतामें उनकी अटल आस्था थी। वे कहते थे कि मनुष्यको अपने कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है। पूर्व जन्मके संचित कर्मोंके फलाफलमें भी विश्वास रखते थे।

पवित्रता, दानशीलता तथा आत्मसंयमपर ध्यान देनेके लिए वे विशेष रूपसे जोर देते थे।

ऊपर बताये गये नियमोंपर ठीक-ठीक आचरण करनेवाले व्यक्तिके जीवनका प्रतिक्षण पुण्य या धर्म (पर्व) के सदृश माना जाना चाहिये। परन्तु ऐसा हो नहीं पाता। तलाश करनेपर मुश्किलसे उँगलियोंपर गिने जानेवाले व्यक्ति अखिल विश्वमें ऐसे मिल सकते हैं जो सच्चे बुद्धका जीवन बितानेमें समर्थ हों।

प्रत्येक मासकी दोनों सप्तमी, अमावास्या और पूर्णिमाको बर्मी बौद्ध व्रत रखते और बौद्ध धर्मके नियमोंका पालन करते हैं। वे नियम हैं जीवहत्या नहीं करना, चोरी नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, मद्यपान और बलात्कार नहीं करना, दोपहरके बाद भोजन नहीं करना, न नृत्य करना और न देखना, न संगीत गाना सुनना, सुगन्धित लेप नहीं करना और न ऊँचे स्थानपर बैठना।

बौद्ध मतावलम्बी बर्मी भिक्षुओंके प्रति महान् श्रद्धा रखते हैं। उनके समक्ष सर्वदा नीचे आसनपर बैठते और वार्ताकालमें एक-एक वाक्यके उच्चारणमें शिष्टताका ध्यान रखते हैं। भिक्षुके प्रति फुंगी (साधु) और अपने लिए डबिडो (शिष्य) शब्दोंके प्रयोग करते हैं। यथासम्भव घुटने टेककर बैठे रहते हैं। प्रतिदिन कतारकी कतार भिक्षु और भिक्षुणी हाथोंमें मधुकरी पात्र लिये भिक्षाटनके लिए जाया करते हैं। इसलिए बर्मी अपने दरवाजोंपर भिक्षुओंके बैठनेके लिए ऊँचे आसन और भिक्षाके निमित्त

भोजनकी सामग्रीकी व्यवस्था रखते हैं। बर्मी इस बातका भी पूरा ध्यान रखते है कि कही भिक्षु बिना मधुकरीके ही वापस न हो जायँ।

किसी-किसी अवसरपर तो यहाँतक पाया जाता है कि जिस मार्गसे भिक्षुओको जाना होता है उस मार्गके दोनो किनारोंपर बर्मी देवियाँ अपनी लटोंको बिखरा देती हैं और भिक्षु उनपर पाँव रखकर जाते है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बर्मी देवियाँ बालोंको सँवारकर रखनेमे खूब सावधानी बरतती हैं। उनके बाल काफी लम्बे होते है।

बर्मी कौम अत्यन्त बेफिक्र, आमोदपूर्ण जीवन बितानेवाली है। साधारणतया तो इसके लिए प्रतिदिन ही उत्सवका दिन है। किन्तु इनका विशेष उत्सव (पर्व) दिवस प्रति मासमें एक होता है। इनमे दो पर्व तो असाधारण रीतिसे मनाये जाते है। बर्मी होली जिसे इनकी भाषामे "तिजान्" कहते है और दीपावली जिसे "दडिन्जो" कहा जाता है, अद्‌भुत 'उछाह' और सजधजके साथ मनाया जाता है।

बर्मी होली भारतीय वसन्तोत्सव (होलिकोत्सव) के बाद चैत्र मासमे पड़ती है। चैत्रमासको बर्मी भाषामें 'डगूला' कहते हैं। यह पर्व ४ दिनतक मनाया जाता है। इस उत्सवमे देवराज इन्द्रकी पूजाकी प्रधानता है। प्रथम दिन इन्द्रका आवाहन कर उन्हें इस लोकमे बुलाया जाता है। दूसरे और तीसरे दिन बर्मी खुशियाँ मनाते और एक-दूसरेपर जल फेंकनेकी क्रीड़ा करते हैं। आबाल-वृद्ध-वनिता टोलियोमे हाथोमें पिचकारियाँ और घट लिये हुए पैदल घूम-घूमकर खेलते ही है, बड़ी-छोटी मोटरोपर भी जल-पात्र रखकर डगर-डगर घूमते तथा पानी फेंकते है। प्रातःकाल ८ बजेसे प्रारम्भकर १२ बजेतक लोग इस खेलमें निमग्न रहते हैं। १२ से २ बजेतक भोजन और आराम कर पुनः उसी खेलमे

लग जाते है। इस जल-क्रीड़ामे तपती धराको शीतलता प्रदान करना उद्देश्य होता है। तिजान्के एक-न-एक दिन वर्षा होकर रहती है। ४ बजे इस खेलको समाप्तकर वस्त्राभूषणोसे अलंकृत हो नृत्यगान आदि विविध प्रकारकी ललित कलाओंके प्रदर्शनोमे तल्लीन हो जाते है। इन प्रदर्शनोकी कुछ विधियाँ तो अत्यन्त मनमोहक होती हैं। ये मोटरोपर नौकाओकी आकृतिके दृश्य बनाते हैं, जिनमें रंग-बिरंगी बिजलीकी बत्तियाँ लगी होती है। इन्हींपर ऊँचे रंगमंच बनाते है जो ललित कलाओके प्रदर्शनके लिए उपयोगमे लाये जाते है। ऐसी अनुपम छटाओसे प्रत्येक मार्ग जगमगाता दीखने लगता है।

'तिजान्'का चौथा दिन पूजनका होता है। मन-वचन-कर्मसे शुद्ध होकर बर्मी लोग भगवान् बुद्धके मन्दिरोमे जाते और धूप, मोमबत्ती (दीपकके बदले), नारियल, कदलीफल, पान और दक्षिणाके साथ देवार्चन करते है। बुद्ध भिक्षुओको भोजन-वस्त्र देना भी उनकी पूजनविधिका एक अंग होता है। यह देव-पूजन नववर्षारम्भके दिनका है। चैत्र मास (डगूला), जिसमे बर्मी होलिकोत्सव मनाते हैं, वर्षका प्रथम मास होता है।

बर्मी दीपावलीको बर्मी भाषामे 'दडिजो' कहते है। यह पर्व भारतीय आश्विन मासमें पड़ता है। आश्विनको बर्मी 'दडिजू ला' कहते है।

भगवान् तथागतके जीवनकी एक ऐतिहासिक घटनासे इस पर्वका सम्बन्ध बताया जाता है। बुद्धाब्द ११० में भगवान बुद्धने इन्द्रलोकमे चतुर्मासा (वर्षावास) बिताकर जब संकाश्य-नगरमें पदार्पण किया था उस समय देवताओने सप्तरंगी दीपोसे भगवान्‌की आरती उतारी थी। उसी समयसे बौद्ध-मतावलम्बी इस पर्वको मनाते आ रहे हैं।

दीपोत्सवके अनेक दिनो पहले ही बर्मी अपने घरोकी सफाई

आरम्भ कर देते हैं। तोरण, बन्दनवार और झण्डियोसे घरोको सजाते हैं। स्थल-स्थलपर कदलीस्तम्भ और अनेक प्रकारके झाड़ो तथा लताओंसे सुसज्जित 'द्वार' बनाते हैं। पटाखे और फुलझड़ियाँ छोड़ते है। भिक्षुओको भोजन-वस्त्र देना और देवालयोमे जाकर विधिपूर्वक पूजन करना इस उत्सवका भी एक विशिष्ट अंग है।

चैत्र और आश्विन मासके विशेप पर्वोंके बाद शेष दश मासके और दश पर्व है। ये मास है वैशाख (क सौला), ज्येष्ठ (न यौ-ला), आषाढ़ (वा जो ला), श्रावण (वा गौ ला), भाद्रपद (टो दले ला), कार्त्तिक (ड जौ मौ ला), अगहन (न डोला), पोप (प्यादो ला), माघ (ड बो ड् बे ला) और फाल्गुन (ड बौ ला)।

वैशाख मासके पर्वको "ञौ ये तो प्वे" कहते है। इस दिन पीपलके पेड़मे जल चढ़ानेका महत्त्व है। इसी मासमे बोधिवृक्ष (पीपल) के नीचे बुद्धको सम्बोधिकी प्राप्ति हुई थी। इसलिए वैशाख मासकी ग्रीष्मकालीन धूपसे रक्षा करनेके लिए बौद्ध-मतावलम्बी पीपलके वृक्षको जलसे सीचते है। भगवान् तथागतके जन्म, बोध और महापरिनिर्वाणका भी यही मास है। जेष्ठ मासमे प्राचीन कालमे राजा लोग आम जनताको पारितोषिक वितरण करते थे। बर्मियोमें यह प्रथा आज भी चालू है। आषाढ़ भिक्षु-दीक्षा ग्रहण करनेका मास है, इसी माससे भगवान् बुद्धने वर्षा-वास प्रारम्भ किया था। श्रावण मासके उत्सवको 'सायेडा' कहते हैं। विहारोमें रखी हुई भगवान् बुद्धकी मूर्तियोंपर लाटरी डालने-का यह पर्व है। भिक्षुओको भोजन देना, पिण्डदान करना आदि पर्वकी विशेषता है। भाद्रपद मासके उत्सवको 'ल्हे प्याह प्वे' कहते हैं। यह पर्व नौका-विहारका है। कार्त्तिक मासके पर्वको 'मतोतिगा' कहते हैं। रातमें सूत कातकर 'चीवर' तैयार कर भिक्षुओंको दान देनेका इस पर्वमे 'माहात्म्य' है। अगहन मासके पर्वको 'नगना प्वे' कहते है। इस महीनेमें बर्मी तैंतीस देवताओंकी

पूजा करते हैं।

पौष मासमें वीरोंको पदक प्रदान करनेका पर्व मनाया जाता है। माघ महीनेमें आग तापनेका त्यौहार पड़ता है। लप्सी या खिचड़ी बनाकर खानेका भी महत्त्व है। पौराणिक आख्यानोंके अनुसार इस मासमें भगवान् बुद्धको भी शीतके कारण आग तापना पड़ा था और उसी परम्पराका पालन अभी भी होता आ रहा है। फाल्गुन मासमें बालूका स्तूप बनाकर उसका पूजन करनेका विधान है।

: ११ :

विभूतियोंका आगमन

भारत-बर्माके बीचकी सांस्कृतिक-ग्रन्थियो एवं राजनीतिक सम्बन्धोको दृढ़तर बनानेमे भारतीय नेताओका समय-समयपर बर्मा आगमन बहुत ही सहायक सिद्ध होता रहा है। बर्माकी स्वतन्त्रताके लगभग दस वर्ष पहलेतक बर्मा भारतके ब्रिटिश प्रशासनका अंग रहा है। भारतके विशिष्ट भारतीय नेता सामाजिक और राष्ट्रीय आन्दोलनके प्रसारके सिलसिलेमे भारतके अन्य भागोंकी तरह तब भारतके एक सूबे बर्माका भी दौरा करते रहे हैं। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक और नेताजी सुभाषचन्द्र बसु जैसे नेताओको तो स्वयं ब्रिटिश सरकारने बर्माके विभिन्न जेलोंमे ले जाकर बन्द किया था।

महात्मा गांधीका बर्मा-आगमन उस समय हुआ था जब भारतकी भाँति यहाँ भी राष्ट्रीय जागरणकी लहर व्याप्त होने लगी थी। महात्माजीके आगमनसे दो विशेष लाभ हुए। एक तो यह कि भारतीय आन्दोलनकी रीति और बलसे बर्मी जनताका परिचय हुआ और दूसरे अपने आन्दोलनको आगे बढ़ानेकी प्रेरणा उन्हे मिली। भारत और बर्मा एक ही पथके पथिक है तथा दोनोका एक ही अभीष्ट है, इसका भी सन्तोषप्रद ज्ञान बर्मी जनताको महात्माजी द्वारा ही हुआ।

महात्माजीका बर्मा-आगमन सन् १९२९ मे हुआ था। आप रंगूनसे मांडले रेल द्वारा गये और वापस भी आये थे। इन दो महान् नगरोके मध्य पड़नेवाले जिन-जिन स्टेशनोपर ट्रेन रुकती

थी वहाँ जनताकी अपार भीड़ स्वागतार्थ उमड़ पड़ती। उस समय महात्माजी विदेशी सामानके बहिष्कारका आन्दोलन लेकर चल रहे थे और आपके भाषण प्रायः इसी सम्बन्धमें होते थे। उन जनोंका, जिन्हें महात्माजीके वचनामृतके आस्वादनका सौभाग्य सुलभ रहा, कहना है कि "भारतीय, बर्मियोंको भाई समझें और उनके साथ वही व्यवहार रखें जो एक ईमानदार पड़ोसी बन्धुका होता है," यह सदुपदेश वे सर्वत्र देते रहे।

महात्माजीसे पहले डाक्टर राजेन्द्रप्रसादका भी बर्मा-आगमन हुआ था। बर्माकी जियावडी और चौतगा नामक उन दो विशेष जागीरोंके, जहाँ बिहार प्रान्तसे आकर बसनेवाले लगभग पन्द्रह-पन्द्रह हजारकी संख्यामें भारतीय किसान आज भी बसे हुए हैं, किसानों और जागीरदारोंके बीच विवादके कारण आपका यहाँ आगमन हुआ था। आपने बर्माके अन्य स्थानोंके भ्रमणकी ओर खास ध्यान न देकर इन दोनों जागीरोंकी स्थितिको समझने और यहाँकी उलझनोंको सुलझानेमें ही अपना समय दिया। जियावडी जागीरके मालिक और किसानोंके बीचका संघर्ष चौतगाकी अपेक्षाकृत अधिक उग्र था। आप दोनोंके बीच अस्थायी सद्भाव पैदा करनेमें सफल हुए थे।

जियावडीके एक किसान नेता श्री रामकृष्ण महतोका कहना है कि डाक्टर राजेन्द्रप्रसादका भाषण करानेके लिए जागीरके मध्य अवस्थित एक बागमें सभाका आयोजन किया गया था, जिसमें बहुत बड़ी संख्यामें किसान उपस्थित थे और "बोलो गंगाजीकी जय", "बोलो महावीरजीकी जय" आदि नारे लग रहे थे। राजेन्द्र बाबूने साश्रुनेत्र और गद्गद् कण्ठसे कहा, "यहाँ ऐसे दुर्दिनमें भी आप लोग 'गंगाजी' तथा 'महावीरजी'को नहीं भूलें हैं"। महतोजीका कहना है कि किसानोंकी दयनीय स्थितिसे राजेन्द्र बाबू जहाँ कातर हो उठते थे वहाँ इनके भारतीय संस्कृतिके

प्रति अनुरागको देखकर आह्लादित लगते थे ।

चौतगाके एक वयोवृद्ध पं० परमानन्दजीका कथन है कि डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद उनके गणेशबाड़ी नामक आश्रमके सन्निकट ही एक लब्धप्रतिष्ठ किसान श्री ईश्वरदयालके निवास-स्थान-पर टिके थे। राजेन्द्र बाबू विशुद्ध शाकाहारी सात्त्विक भोजन करते थे, परन्तु छूत-छातका भेदभाव नहीं रखते थे। अछूतोंके हाथका भी जल ग्रहण करते थे। एक बार पं० परमानन्दने जिज्ञासावश ज्यों ही यह कहा, "बाबूजी, अछूतो (चमारो) के हाथका भी पानी पी लेते है," तो राजेन्द्र बाबू झट बोल पड़े, "पंडितजी, मेरा धर्म केवल हिन्दुतानकी आजादीकी लड़ाई लड़ना ही है ।" भारत स्वतन्त्र होनेके बाद सन १९४७मे राजेन्द्र बाबूका पुनः बर्मा-आगमन हुआ था ।

डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजीसे भी पूर्व भारतीय राष्ट्रगगनके एक जाज्वल्यमान नक्षत्र श्री जे० एम० सेनगुप्तका चन्द दिनोके लिए यहाँ उदय हुआ था। आपका आना बर्मी इतिहासकी एक अनोखी घटना बन चुका है। उन दिनो रंगूनके जिला न्यायालय-के न्यायाधीश श्री मोरिस कालिस नामक एक 'आइरिश' सज्जन थे। आपने 'ट्रायल्स इन बर्मा' नामक पुस्तक लिखी है, जिसकी लोकप्रियताकी समता इस देशके सम्बन्धमे लिखी गयी कदाचित् कोई भी पुस्तक अबतक नही कर पायी। संयोगवश लेखकको उक्त पुस्तकको आद्योपान्त पढ़ जानेका अवसर मिला है और उसे ऐसा लगता है कि यदि 'ट्रायल्स इन बर्मा'से देशभक्त सेनगुप्तके 'ट्रायल'के अध्यायको निकाल दिया जाय तो पुस्तकका महत्त्व बहुत-कुछ कम हो जायगा। सेनगुप्तके आगमन उनके आपण और भाषणके परिणामस्वरूप उनपर चलाये गये मुकदमे-ने रंगूनके जनजीवनको कुछ कालके लिए आलोड़ित कर रखा था। श्री सेनगुप्तने अपने भाषणमें ब्रिटिश नीतिकी भर्त्सना की

थी, जिससे रुष्ट होकर तत्कालीन बर्मा सरकारने सुरक्षा-कानून भंग करनेके अभियोगमें आपपर मुकदमा चलाया था। रंगून जिलाके जिस न्यायालयमें मुकदमेकी सुनवाई हुई थी उसके विद्वान् न्यायाधीश 'ट्रायल्स इन बर्मा'के ख्यातनामा लेखक श्री मारिस कालिस थे।

महात्मा गांधीके प्रमुख अनुयायी सेवामूर्ति सेठ जमनादास बजाज और अली-बन्धुओंका भी बर्मा-आगमन हुआ था। मुहम्मदअली और शौकतअलीने भी इस भूमिपर पदार्पण किया था।

पंजाब केशरी लाला लाजपतराय भी बर्मा आये थे और आपके आगमनसे दोनो देशोंके सांस्कृतिक सम्बन्धोंको दृढ़ता प्राप्त होनेके साथ ही बर्मी जनताको राजनीतिक चेतना और प्रवासी भारतीयोंको सांस्कृतिक जागरूकताकी प्रेरणा मिली थी।

द्वितीय महायुद्धके कालपर जब नजर जाती है तो भारतीय स्वतन्त्रता-संग्रामके अमर सेनानी श्री सुभाषचन्द्र वसुके व्यक्तित्वके अतिरिक्त कतिपय अन्य विभूतियोंका भी ध्यान आता है। इनमें श्री रासविहारी वसु और उनके सचिवके रूपमे सन् १९४२ में बर्मा आनेवाले श्री देशपाण्डेका नाम विशेष उल्लेखनीय है। भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलनके एक प्रमुख नेता और भारतसे बाहर रहकर भी भारतकी स्वतन्त्रताकी चिन्ता करनेवाले उस महापुरुष-के सम्बन्धमें तखिन सेनगुप्तने एक पुस्तक "अवर स्ट्रगिल ऐण्ड रासविहारी बोस" लिखी है। श्री देशपाण्डे सन् १९२८ मे भारतसे जापान गये थे और सन १९४२ मे श्री रासविहारी बोसके वैयक्तिक सचिव होकर वर्मा आये थे और कुछ समयतक इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स लीगकी बर्माकी टेरीटोरियल कमेटीके राजनीतिक मन्त्री रहे। जापानियोंसे मतभेद होनेके कारण आप लीगसे पृथक् कर दिये गये। इसी कालमें कुछ महीनोंतक

आप 'जियावडी'मे रहे थे।

युद्धकालके पश्चात् स्वतन्त्र बर्मामें दो प्रमुख भारतीय नेता आये—श्री जयप्रकाशनारायण और डाक्टर राममनोहर लोहिया। श्री जयप्रकाशनारायण एशियाई समाजवादी सम्मेलनके सिल-सिलेमें सन् १९५४ मे आये थे और डाक्टर लोहिया इससे पहले सन् १९५१ मे। डाक्टर लोहिया सन् १९५१ मे अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेसके वार्षिक अधिवेशनका उद्घाटन करनेके लिए आमन्त्रित किये गये थे। इस अवसरपर बर्माके चोटीके नेताओंसे भी डाक्टर लोहियाका समाजवादी सिद्धान्त और नीतिपर विचार-विमर्श हुआ था। डाक्टर लोहियाके इस आगमनका लाभ उठाकर बर्माके हिन्दी साहित्य-सम्मेलनका भी जिसके अधिवेशनका एक सेवक उस वक्त यह जन था, विशेषाधिवेशन आयोजित किया गया था। इस अवसरपर भाषण करते हुए डाक्टर लोहियाने बर्माके सम्बन्धमे हिन्दीमें पुस्तकके प्रणयनकी जिस आवश्यकताका निर्देश किया था उसीसे बर्माके भारतीयोकी स्थिति और बर्मी राजनीतिक गतिविधिके सम्बन्धमे एक पुस्तक लिखनेकी प्रेरणा लेखकको हुई।

बौद्ध-दर्शनके दो प्रसिद्ध भारतीय विद्वानो—भिक्षु जगदीश काश्यप और भदन्त आनन्द कौसल्यायनका भी बर्मा आगमन हुआ था। काश्यपजी एकाधिक बार बर्माकी यात्रा कर चुके है, दूसरी बारकी आपकी यात्रा छठे बौद्ध संगायनकी व्यवस्थाके सम्बन्धमे हुई थी। स्थानीय गांधी स्मारक भवनमें आपका भाषण सुननेके लिए बर्माके तत्कालीन प्रधान मन्त्री ऊ नू और सांस्कृतिक मन्त्री ऊ विन भी उपस्थित थे। आपने बौद्ध-दर्शनकी महत्ता और बौद्ध-धर्मके ग्रन्थोंके हिन्दी रूपान्तरकी उपयोगितापर भाषण किया था।

आनन्दजी विश्व बौद्ध-सम्मेलनके सन् १९५४ मे रंगूनमें हुए

तृतीय सम्मेलनमे सम्मिलित होनेके लिए बर्मा आये थे। सम्मेलनकी समाप्तिके बाद आनन्दजी ऊपरी बर्माके पर्यटनके लिए माण्डले गये तो लेखकको निकट सम्पर्कमे तीन दिन रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। माण्डलेके आर्य-समाज भवनमे आपके भाषणकी व्यवस्था की गयी थी। अबौद्धोंके बीच आप बौद्ध-मतका प्रचार करते थे और बौद्धोंके बीच महात्मा गांधीके राष्ट्रीयताके सन्देशका प्रसार। माण्डलेके आर्य-समाज भवनके बाहर हिन्दीमें साइन-बोर्ड न देखकर प्रवचन करते हुए उसके प्रबन्धकोंकी आपने अच्छी खबर ली। आपने कहा कि "हिन्दीकी ऐसी उपेक्षा कि आर्य-समाज भवनके साइन बोर्डतक अंग्रेजीमे ही हो। डूब मरनेकी बात है।" आपने चतुर्थ विश्व बौद्धमत सम्मेलन नेपालमे करनेके लिए वहॉके तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री मातृकाप्रसाद 'कोइराला'की ओरसे आमन्त्रण दिया था, जो मंजूर कर लिया गया था।

भारतसे सद्‌भावना-प्रसारके उद्देश्यसे प्रतिवर्ष दर्जनो नेता बर्मा आते है और सबके आगमन एक-न-एक रीतिसे प्रवासी भारतीयो एवं बर्मियोको एक-दूसरेके अधिक सन्निकट होनेकी प्रेरणा देते है। भारत-बर्माके बीचके सम्बन्धोंको दृढ़तर बनानेमे भी ये आगमन सहायक सिद्ध होते हैं। सन् १९५४मे रंगूनमे होनेवाले एशियाई समाजवादी सम्मेलनमे आजके सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाशनारायण भी सम्मिलित हुए थे। ब्रिटिश मजदूर दलके नेता श्री क्लीमेंट एटली भी इस सम्मेलनमें सम्मिलित हुए थे। सम्मेलन समाप्त होनेके बाद अखिल-बर्मा-भारतीय कांग्रेसने एक प्रीतिभोजका आयोजन किया था। जयप्रकाश बाबूने यहॉ अपने विचार व्यक्त करते हुए दो विशेष बातोकी ओर बर्माके भारतीयोका ध्यान आकृष्ट किया था। आपने कहा था, "मनुष्य परिस्थितियोंके हाथका पुतला होता है। इन्हीं श्री एटलीको, जो

हम लोगोंके मध्य विराजमान हैं, भारतको स्वतन्त्र करनेका विधेयक अपनी संसदमें स्वीकार कराना असम्भव हुआ होता, यदि विगत द्वितीय विश्व महायुद्धके कारण ग्रेट-ब्रिटेनकी स्थिति जर्जर न हो गयी होती। इसलिए अधीर होनेकी आवश्यकता नहीं है। आज जिन आपदाओंका अनुभव हो रहा है कल दूर होकर रहेगी।" निर्देशभरा आपका दूसरा सन्देश यह था कि "जहाँतक भारतके सम्मानका प्रश्न है, देशके भीतर हम लोगोंने उसे ऐसे व्यक्तिके हाथमें सौंप रखा है, जिसके प्रति हम सब लोगोंकी श्रद्धा है और वह व्यक्ति है पं० जवाहरलाल नेहरू। हम लोगोंको पूर्ण विश्वास है कि वे ऐसा कोई काम नहीं करेंगे जो भारतके सम्मानको धक्का पहुँचाये, परन्तु भारतसे बाहर भारतके सम्मानकी रक्षाका दायित्व वहाँ बसनेवाले भारतीयोंके आचरणोंपर निर्भर है। यह तथ्य आप लोगों (बर्मामें बसनेवाले भारतीयों) को ध्यानमें रखना चाहिये।"

एशियाई समाजवादी सम्मेलनमें भाग लेनेके लिए जयप्रकाश-नारायणजीके अतिरिक्त भारतसे अन्य कई प्रतिनिधि आये थे, जिनमें श्री ठाकुर उग्रसेन सिंह और पं० बालमुकुन्द दीक्षित भी थे। सम्मेलनकी समाप्तिके पश्चात् भी आप लोग कुछ कालतक बर्मामें रहे। आप लोगोंने जियावाडी और चौतगा, उन दो विशिष्ट स्थानोंका भी भ्रमण किया था, जहाँ हजारोंकी संख्यामें बिहार प्रान्तसे आकर भारतीय किसान तीन पीढ़ियोंसे बसे हुए हैं। आप लोगोंके भ्रमणसे किसानोंको काफी प्रोत्साहन मिला था।

चीन सरकारके आमन्त्रणपर सन् १९५६ के अक्तूबर मासमें पेकिंग जाते हुए दो भारतीय साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार और श्री ताराशंकर वन्द्योपाध्याय रंगूनमें एक सप्ताहके लिए रुके थे। रंगूनकी हिन्दी प्रेमी संस्थाओंने तो आप लोगोंके निवाससे लाभ उठाया ही था, बर्मी लेखक संघ भी पर्याप्त लाभान्वित हुआ।

हिन्दीके प्रमुख कवि और साहित्यकार श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'के बर्मा-आगमनपर हिन्दी प्रेमी जनताके बीच विशेष हार्दिकतापूर्ण स्वागत हुआ। 'दिनकर' जी सन् १९५७ मे अपनी चीन यात्रासे लौटते समय नवम्बर मासमे रंगून रुके थे। इन्ही दिनो 'अखिल बर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के वार्षिक अधिवेशनका आयोजन था। अधिवेशनका उद्घाटन करनेके लिए 'दिनकरजी'को आमन्त्रित किया गया और आपने उसकी स्वीकृति प्रदान करनेका अनुग्रह किया। आप यहाँ २२ नवम्बरको पधारे और चार दिनोतक रहे। आपकी प्रतिभा, पाण्डित्य और ओजस्वी भाषणो एवं कवितापाठोसे रंगूनकी भारतीय जनताको नवस्फूर्ति प्राप्त हुई। "भारतकी राष्ट्र भाषा हिन्दी ही क्यो होनी चाहिये", इसके प्रतिपादनमे आपका भाषण बहुत प्रभावोत्पादक रहा। रंगूनस्थित भारतीय राजदूत, महामहिम श्री लालजी मेहरोत्राके सभापतित्वमे, जो अधिवेशनके भी संरक्षक थे, स्वागत समितिने 'दिनकरजी'को अभिनन्दनपत्र समर्पित किया था और इसी अवसरपर ब्रह्मदेशीय कवियोके एक सम्मेलनका भी आयोजन किया गया था।

: १२ :

बर्मामें भारतकी झलक

मानव-धर्मकी सच्ची सेवा और निष्काम-कर्मका वास्तविक स्वरूप रामकृष्ण मिशन द्वारा संचालित अस्पताल, सेवाश्रम और पुस्तकालयमें देखनेको मिलता है। रामकृष्ण मिशन बर्माकी उन इनी-गिनी संस्थाओमेसे है जिसका काम बिना किसी आडम्बरके अत्यन्त सुचारु रूपसे चल रहा है। मिशनके हर एक ब्रह्मचारी और साधुका जीवन मानवताकी सेवाके भावसे ओत-प्रोत मिलता है।

श्री रामकृष्ण मिशन रंगूनकी प्राचीनतम संस्थाओंमेंसे एक है। सम्प्रति मिशनके कार्यकलापोके संचालनकी सफलताका श्रेय स्वामी अकुण्ठानन्द और स्वामी सूर्यानन्दको है। स्वामी सूर्यानन्दजी की देख-रेखमे मिशनकी लाइब्रेरीने विशेप प्रगति की है। इसकी समताकी दूसरी कोई लाइब्रेरी बर्माभे नहीं है।

रंगून नगरकी एक विचित्रता है। इसमें भारतके प्रत्येक प्रान्त-के निवासी मिलते है। इस तरह यहाँ लघु भारत बसा हुआ कहा जा सकता है। बंगालकी खाड़ीके इस पार इस 'लघु-भारत'मे आसाम और कश्मीरको छोड़कर, जहाँके निवासी यहाँ अत्यल्प संख्यामें हैं, सभी प्रान्तोका नमूना मिलता है। बर्माभे पंजाबियो-की काफी अच्छी संख्या है। आर्यसमाज आन्दोलनको आगे बढ़ानेमें इस प्रान्तके लोगोका विशेष हाथ रहा है। रंगून नगरमे पंजाबियोंकी कोई बड़ी संस्था नहीं है। इस कमीकी पूर्ति बर्माके

दूसरे सबसे बड़े नगर माण्डलेमें "पंजाब सोशल क्लब"का संघटन करके कर दी गयी है।

बर्मामें सिख सम्प्रदायके लोग भी सर्वत्र मिलते हैं और अच्छी स्थितिमें है। रंगूनमे भी इनकी अच्छी संख्या है। रंगूनमे सिखोंका गुरुद्वारा अच्छी दशामें है। इनका 'खालसा हाई स्कूल' भी यहाँ था जिसकी हालत अब उतनी अच्छी नहीं है। अब एक छोटा-सा विद्यालय चल रहा है। 'गुरुद्वारा'के पास ही 'गुरू नानक दातव्य औषधालय' गत कुछ वर्षोंसे खुला हुआ है और इस प्रकार इस समुदायने महान् सेवापरायणताका परिचय दिया है।

पंजाबके बाद यदि दिल्ली देखना हो तो भारतीय दूतवासको देख लीजिये। दिल्लीके बाद उत्तरप्रदेश और बिहारकी बारी आती है। खास रंगून शहरके आस-पास तो उत्तरप्रदेश और बिहारके पशु-पालक भारतीय रहते ही है, शहरके मध्यमे कोयला, कपड़ा, सोना-चाँदी और जवाहराततकका व्यापार करनेवाले भी हैं। रंगूनसे हिन्दीके तीन पत्र एक दैनिक 'प्राची-प्रकाश' और दो साप्ताहिक—'नवजीवन' जिसने पहले दैनिकके ही रूपमें जन्म पाया था, और 'प्रवासी' प्रकाशित होते है। तीनोंके प्रकाशक उत्तरप्रदेशीय हैं। उत्तरप्रदेशीय और बिहारियोंकी एक संस्था भी है। इसे "यू० पी० बिहार असोसियेशन" कहा जाता है। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्णचन्द्रकी लीलाभूमि ब्रजके भी निवासी यहाँ हैं। उनकी कोई विशिष्ट संस्था यहाँ नहीं है, लेकिन 'ब्रजवासी'के रूपमे इनकी पृथक् संज्ञा है।

बिहारके बाद बर्मामे बंगालकी झलक भी देखी जा सकती है। बंगाल प्रान्तके निवासियोंकी अनेक संस्थाएँ है। 'बंगाल यंगमेन असोसियेशन', 'टैगोर सोसायटी', 'बंगाल एकेडेमी' और 'बंगाल चेम्बर आफ कामर्स', आदि प्रमुख संस्थाएँ है।

दुर्गा-पूजा और दशहरा जैसे पर्वोंके अवसरपर बंगाल निवासियोंके क्षेत्रमें जानेपर ऐसा लगता है मानो खास बंगाल अथवा भारतके अन्य नगरके बंगाली-टोलेकी ही झलक मिल गयी हो। 'बंगाल एकेडेमी'के प्रधानाचार्य श्री मित्र नामक एक विद्वान् सज्जन हैं।

राजस्थानियोंकी संख्या तो बहुत अधिक नहीं है। परन्तु वैभव और सम्पन्नतामें इनका विशेष स्थान है। इनका राजस्थानी-पंचायती-भवन है। उसीसे लगा हुआ श्री मारवाड़ी विद्यालय है, जो श्री डी० एन० सेन जैसे अनुभववृद्ध सुपरिण्टेण्डेण्टको पाकर अब हाईस्कूल हो गया है। श्री सेन सरकारी हाईस्कूलोंके बहुत वर्षोंतक प्रधानाचार्य थे। वहाँसे अवकाश प्राप्त होनेके बाद आपकी सेवाएँ इस विद्यालयको प्राप्त हुई है। हाईस्कूलके बगलमें ही श्री मारवाड़ी पुस्तकालय है। इसके द्वारा हिन्दी पुस्तकों और पत्रिकाओंके पाठक बहुत वर्षोंसे काफी लाभान्वित होते आ रहे है। श्री मारवाड़ी युवक संघ और मारवाड़ी चेम्बर आफ कामर्सके भी संघटन हैं। बर्माके कपड़ेके व्यापारपर मारवाड़ियोंका आधिपत्य है।

रंगूनके गुजरात मण्डल और गुजराती हाईस्कूलकी चर्चा इसलिए आवश्यक है कि रंगूनमें सांस्कृतिक गतिविधिके ये केन्द्र है। इसके हाईस्कूलके प्रधानाचार्य श्री देसाई नामक एक वयोवृद्ध विद्वान् सज्जन हैं। विगत जून माससे कुमारी लता भारद्वाज, एम० ए०, एम० एड, नामकी विदुषी महिला उनकी सहायिकाके रूपमें नियुक्त है।

"नूतन-बर्मा" नामक गुजराती भाषाका एक पत्र भी प्रकाशित होता था जो दो वर्ष पहले बन्द हो गया। सोना, चाँदी और हीरे-जवाहरातके व्यापारपर एक तरहसे गुजरातियोंका एकाधिकार है।

मुसलमान गुजराती बन्धुओंको यहाँ 'सूरती' या मेमन कहते हैं। इन्होंने मुसलिम दातव्य औषधालय चालू करके दीन लोगोंको बहुत बड़ा अवलम्ब दे रखा है। साधारण रोगोंकी चिकित्साके साथ-साथ आँखों और प्रसूता स्त्रियोंकी शिकायतोंके मुफ्त निदान तथा इलाजका यहाँ अच्छा प्रबन्ध है। यहाँ सिन्ध-के निवासी भी है और उनकी संस्था सिन्धी असोसियेशन भी है। ये हर प्रकारके व्यवसायमें लगे है। हिन्दू संघटनके कार्योंमे ये अधिक तत्पर दीखते है।

पूरे बर्मामे बसनेवाले भारतीयोकी यदि तालिका तैयार की जाय तो मद्रास प्रान्तके निवासी अपेक्षाकृत बहुसंख्यक मिलेगे। इनमें हर वर्गके लोग है। गगनचुम्बी महलोंमे रहनेवाले लक्ष्मीपति हैं और झोपड़ोंमे बसनेवाले दीनातिदीन भी। यदि इनमे उच्चकोटिके विद्वान् है तो मूढ़ भी। स्वतन्त्र बर्माकी सरकार द्वारा जमींदारी उन्मूलन कानून लागू किये जानेके पश्चात् भूमिके हरजानेकी माँगका जो स्मृतिपत्र भारतकी केन्द्रीय सरकारको भेजा गया था उसे देखनेपर पता चला है कि बर्माकी खेती करने योग्य भूमिके अधिकांश भागपर दक्षिण भारतीय (चेट्टी) जमींदारोंका कब्जा रहा है। ये महाजनी (सूदखोरी)का काम भी करते रहे है। इनके पृथक् बैंक और नाट कोटाई चैम्बर आफ कामर्स भी है।

रंगून शहरके भारतीयोमें दक्षिणभारतीयो (तामिल)की संख्या सर्वाधिक है। ये यहाँ प्रत्येक व्यवसायिक क्षेत्रमें प्रविष्ट मिलते है। इनके पृथक् विद्यालय, समाचारपत्र और संस्थाएँ है। अखिल ब्रह्मदेशीय तमिल असोसियेशनका संघटन चार वर्षों पहले किया गया था। समाचारपत्रोंमे "रसिक रंजनी" सर्वाधिक व्यापक है। इसके अतिरिक्त 'तुण्डन', 'शान्ति' और "बर्मा नाडू" पत्रोंकी भी अच्छी खपत है।

बर्मामें बसे तमिलोंमे अनेक विशिष्ट कार्यकर्ता हैं, जिनमे बर्मा भारतीय कांग्रेसके एक भूतपूर्व अध्यक्ष बैरिस्टर श्री वी० एस० व्यंकटरमणका सार्वजनिक क्षेत्रमे काफी नाम है। कांग्रेसके अध्यक्ष रहनेके समय आप बर्माके भारतीयोके हितोंकी रक्षाके निमित्त सर्वदा जागरूक रहते थे।

रंगूनकी आंध्र यूथ लीग (आंध्र युवक संघ)के संघटन और सेवाकार्य प्रशंसनीय है। लीग अपने समुदायमे सर्वतो-मुखी विकास-कार्य कर रही है। दीनोंमे शिक्षा-प्रचारके लिए निःशुल्क पाठशालाकी व्यवस्था की गयी है। लीगका कार्यालय सब प्रकारसे सम्पन्न कार्यालयसे सम्बद्ध है। एक पुस्तकालय भी है। आंध्र भाषामे 'आन्ध्रमित्र' और 'तेलगुबिड्डा' नामक दो पत्र भी प्रकाशित होते है। आन्ध्रप्रदेशीय बन्धु भरण-पोषणके निमित्त छोटे-मोटे सभी प्रकारके व्यवसाय एवं नौकरियोमें लगे हैं।

यह सन्तापका विषय है कि बर्मामे बसनेवाले भारतीयोमें कुछ प्रान्तोके निवासी अपेक्षाकृत अधिक गरीब है। उनमे उत्तर-प्रदेशीय और बिहारी, तमिलियन (मद्रासी), आन्ध्र (तेलगु) और उत्कलप्रान्तीय (उड़िया) विशेष रूपसे। इन प्रान्तोके निवासी उच्चस्तरीय व्यापारसे लेकर निम्न कोटिके कार्यको करते है। उत्कलप्रान्तवालोका एक महाजन-संघ भी है। इसके माध्यमसे जन-जागरणका कुछ-न-कुछ काम होता रहता है।

प्रान्तीय संस्थाओके साथ-साथ यहाँ जातीय संस्थाएँ भी हैं। ब्रह्मदेशीय श्री ब्राह्मण महासभा, ब्रह्मदेशीय क्षत्रिय युवक संघ, और अखिल ब्रह्मदेशीय जायसवाल संघके संघटन रंगूनमें है। मध्य बर्मामे ब्रह्मदेशीय कुशवाहा क्षत्रिय (कोइरी) महासभा, चौहान वंशीय क्षत्रिय (नोनिया) संघ, यादव संघ और गहलौत राजपूत क्षत्रिय (दुसाध) संघ

रंगूनसे डेढ़ सौ मील उत्तरकी भारतीय बस्ती जियावडीमे है।

सम्पूर्ण बर्माके हिन्दुओंकी केन्द्रीय संस्था हिन्दू सेण्ट्रल बोर्ड रंगूनमें है। बर्मा-भारतीय स्वयंसेवक संघ हिन्दू संघटनका कार्य प्रशंसनीय रीतिसे वर्षोंसे करता आ रहा है। हिन्दू मित्रमण्डल नामक एक संस्थाका निर्माण भी हालमे किया गया है। प्रान्त, जाति और धर्मका भेद न रखनेवाली भी कुछ संस्थाएँ यहाँ है। इनमें अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेस, नेताजी-सहायता-कोश समिति, अखिल बर्मा युवक-संघ, अखिल ब्रह्मदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, ब्रह्मदेशीय हिन्दी परिषद्, बर्मा भारतीय कला-केन्द्र और भारतीय अरुणोदय संघ आदि संस्थाओंका बर्माके भारतीयोंके सामाजिक जीवनमे विशेष स्थान है।

: १३ :

विश्व-भारती विद्यामन्दिर

विश्व-भारतीकी स्थापना १७ मार्च सन् १९४३ को हुई थी। वह द्वितीय विश्वयुद्धका समय तो था ही, बर्मा इसकी विभीषिका-का एक खास क्षेत्र बना हुआ था। जापानी छायामें डाक्टर बामो-की सरकारका संघटन होनेके पश्चात् 'शिक्षा विभाग' चालू कर देनेकी भी योजना बन गयी थी, यद्यपि इस विभागकी समुचित व्यवस्थाके लिए एक ओर आवश्यक साधनोंका अभाव था तो दूसरी ओर जनरुचिकी भी कमी थी। लोगोंको उन दिनों जान-माल और आबरूकी रक्षाकी फिक्र सर्वाधिक रहती थी; शिक्षा-व्यवस्था-के बारेमें सोचनेकी फुरसत कहाँ थी। डा० बामोकी सरकारके निर्माणके कुछ काल पश्चात् नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोसकी आजाद हिन्दकी 'आरजी-सरकार'के निर्माणकी भी घोषणा कर दी गयी। नेताजीकी सरकार उतनी भी साधनसम्पन्न नहीं थी जितनी कि डा० बामोकी। जब नेताजीकी सरकारने भी शिक्षा-विभागकी योजना बनायी तो इसके संचालनका भार श्री गौतम भरद्वाजको सौंपा गया। भरद्वाजजी सन् १९२९ से ही रंगून विश्वविद्यालयके भौतिक विज्ञान-विभागमें अध्यापक थे और आज तो वे उस विभागके प्रमुख हैं। उनसे अधिक जिम्मेवार एवं सुयोग्य दूसरा भारतीय, जो बर्मी सरकारके शिक्षा विभागीय अधिकारियों-के साथ सुसम्बन्ध स्थापित करके नेताजीकी सरकारके शिक्षा-विभागका काम चलाता, कदाचित् उपलब्ध भी नहीं हो सकता था। फिर उनमें बालकोंके प्रति अभिभावकत्वकी और जनता

जनार्दनके लिए पलती सेवा-भावनाओंने उन्हे इस पदके लिए और अधिक उपयुक्त बना दिया था। विश्व-भारतीको नेताजीने स्वयं आशीर्वाद दिया था, जैसा ऊपर उल्लेख है, आजाद हिन्दकी आरजी सरकारकी इसपर छाया थी, किन्तु उस समय इसकी प्रधानाध्यापिका, एक विदुषी कुमारी लता भारद्वाज थी। आपने युद्ध प्रारम्भ होनेसे पहले ही रंगून विश्वविद्यालयसे बी० ए०की उपाधि प्राप्त की थी और अब तो आप एम० ए०, एम० एड० की उपाधि भी प्राप्त कर चुकी हैं।

विश्व-भारतीने अनुपम सामायिक सेवा की। युद्ध-कालमे रंगूनमे यही एकमात्र ऐसा विद्यालय था जहॉ भारतीय बच्चोको समुचित शिक्षा दी जा सकती थी। युद्धकी समाप्तिके बाद भी यह अपने ढंगका अकेला प्रतिष्ठान रहा। एक साधारण स्तरसे प्रारम्भ होकर यह हाई स्कूल बन गया था। लड़ाईके दिनोमे हजारोकी संख्यामे यत्र-तत्र भटकते भारतीय बच्चोके भविष्यका निर्माण करनेका श्रेय इस विद्यालयको ही है। संक्रान्तिकालमे भी, जब देशकी सम्पूर्ण स्थिति अस्त-व्यस्त थी, यहॉ शिक्षा-प्रसारका कार्य चालू रहा। आज इससे शिक्षा प्राप्त किये हुए सैकड़ो छात्र भारत अथवा बर्मामे डाक्टर, इंजीनियर और प्राध्यापक बनकर समुन्नत ज़ीवन बिता रहे है।

जो विद्यालय भारतीय स्वतन्त्रता संग्रामके अमर सेनानी श्री सुभापचन्द्र बोसके आशीर्वादका साकार स्वरूप हो, सेवा धर्मकी सजीव मूर्ति एवं उद्भट विद्वान् श्री गौतम भारद्वाज जिसके संरक्षक रहे हो और लता भारद्वाज जैसी विदुषी जिसकी प्रधानचार्या रही हो तथा जिसने हजारोकी संख्यामे भटकते भारतीय बच्चोका जीवन सुधारा हो उसे आज कुछका कुछ होना चाहिये था। उत्तरोत्तर प्रगतिपथपर चलकर भारतीयो द्वारा सूत्र संचालित एक उस ऐसे विद्यालयकी स्थितिमे इसे आ जाना

था, जिसका निरीक्षण करनेपर कोई भी व्यक्ति भारतीय गौरवका दर्शन कर पाता। परन्तु यह बात देखी नहीं जाती। राष्ट्रपिता महात्मा गान्धीका स्मारक भवन १० वर्षोंके पश्चात् सन् १९५७ मे केवल इस स्थितितक पहुँचा है कि वहाँ कुछ उत्सवभर मनाये जा सकते है। भारतीय स्वतन्त्रताके मन्त्रदाता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकका स्मारक माण्डलेमे अभी सन् १९५८ मे बना है। परन्तु नेताजी सुभाषचन्द्र बोसका सब प्रकारसे परिपूर्ण स्मारकस्वरूप यह विद्यालय कैसे दिन बिता रहा है, उसका स्मरण कर दुख होता है। नेताजी अथवा उनकी सरकार भले ही नही हैं, किन्तु बर्मामे भारतीय तो है ही और उनका यही नही, दक्षिणी पूर्वी एशियामें अस्तित्व ही नेताजीकी आजाद हिन्द सरकार और सेनाकी बदौलत रह पाया था। विश्व-भारतीकी स्थापनाके समय श्री के० बी० शर्मा और प्रकाशचन्द्र कपूरने विशेष रूपसे योगदान किया था और फिर कालान्तरमे श्री एस० एम० डोसीने विश्व-भारतीकी विशेष सहायता की थी।

'उन्ना चौ ठुन' श्री दीनानाथजीकी भी कृपादृष्टि विश्व-भारती-पर रहती आयी है। श्री दीनानाथ युद्धकालिक आजाद हिन्द सर-कारके बैंकके मैनेजर थे। युद्धोपरान्त जब अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेसका संघटन हुआ तो आप इसके प्रथम महामन्त्री, फिर अध्यक्ष रहे। सम्प्रति आप बर्मा सरकारकी ओरसे संचालित एक ज्वाइण्ट वेन्चर कार्पोरेशनके चेयरमैन है। 'उन्ना चौ ठुन' (देशभक्त) की उपाधि आपको वर्तमान सरकारकी ओरसे दी गयी है। अभी विश्व-भारतीका संरक्षण इंडियन एजुकेशनल सोसाइटी, रंगून कर रही है।

: १४ :

सरदार बहादुर डुगल

रंगूनके आसपासके इलाके तिंगाजुन, मिंगलाडोन, इंसिन और तमाईतकके निवासी 'रंगूनी' तो गिने जाते हैं, परन्तु इनकी सीमाके बाहरवाले जंगलमें बसनेवाले कहलाते हैं। यदि बाहरके किसी निवासीसे रंगूनवाले पूछते हैं कि 'कहाँ रहते हो' तो बहुधा वह पहले कहता है, 'जंगलमें', और फिर अपने निवासस्थानका नाम बताता है। बाहरसे आया हुआ यदि एक व्यक्ति रंगूनके किसी परिचितके यहाँ ठहरा हो और उसका पड़ोसी आकर पूछे कि ये कहाँसे आये हैं तो आतिथेय उत्तरमें पहले कहेगा 'जंगलसे', और तब फिर स्थानका नाम बतायेगा। रंगूनवालोंकी यह धारणा कभी-कभी अप्रसन्नताका कारण भी बन जाती है। अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेसके एक जलसेके अवसरपर रंगूनके एक सज्जनने कांग्रेसकी शाखाओंसे आनेवाले प्रतिनिधियोंको
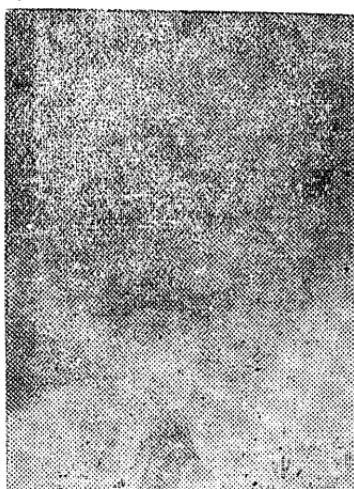
सरदार बहादुर डा० डुगल

सभामंचसे सम्बोधित करते हुए सहसा कह दिया था 'जंगली भाइयो', इत्यादि, इत्यादि। परिणामस्वरूप कुछ प्रतिनिधि तो आपेसे बाहर हो गये थे। खैर, कहनेका तात्पर्य यह है कि लेखकने स्वर्गीय सरदार बहादुर डाक्टर आर० एस० डुगलका नाम तो जंगलमें रहते हुए भी सुना था और सभामंचके परिपूर्ण अधिकारी होनेके उनके गुणसे जंगली प्रतिनिधिके रूपमें रंगून आनेके समय भी प्रभावित होता रहा। किन्तु अधिक निकटसे उन्हे स्वयं परखने और दूसरोके उल्लेखो अथवा भाषणोसे जाननेका अवसर तब मिला जब सन् १९५० के अक्तूबर माससे रंगूनके हिन्दी दैनिक "प्राची-प्रकाश"का सम्पादनका भार संभाला। सन् १९५२ मे जब श्री एम० ए० रशीद बर्मी मन्त्रिमण्डलके श्रममन्त्री नियुक्त हुए तो आपके सम्मानमे अनेक संस्थाओने भोजो अथवा चाय-पार्टियोका आयोजन किया। अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेस भी उन संस्थाओमेसे एक थी। कांग्रेसके प्रीतिभोजके अवसरपर भाषण करते हुए श्री रशीदने कहा था, "इस संस्थाको संघटित स्वरूप देनेका सर्वाधिक श्रेय हम लोगोके गुरुजी सरदार बहादुर डुगलको है"। श्री रशीदका डाक्टर डुगलको गुरु स्वीकार करना असाधारण बात है। सन् १९३७ मे पं० जवाहरलाल नेहरूके प्रथम बर्मा-भ्रमणके समय श्री रशीद उनके व्यक्तिगत सचिव थे। युद्धके बाद जब कांग्रेसका गठन हुआ तो प्रथम दो वर्षों-तक इसके अध्यक्ष आप ही रहे। सन् १९५२ में बर्मा सरकारके 'श्रम' और फिर 'वाणिज्य' मन्त्री चुने गये। इसके बाद कुछ सालतक खदान-विभागीय मन्त्री और फिर योजना और खदान, दोनो विभागोके मन्त्री रहे। यह श्री रशीदके गुरु डा० डुगलके लिए कितने गर्वकी बात है।

रंगूनके आई० ई० एस० सेण्ट्रल हाई स्कूलके छात्रोने सन् १९५७-५८ की एक वार्षिक पत्रिकाका प्रकाशन किया है, जिसमें

स्कूलके मन्त्री श्री बी० के० दादा चान्जीका एक लेख डाक्टर डुगलके व्यक्तित्वके सम्बन्धमे छपा है। दादा चान्जी सन् १९२९-३० के लगभग डाक्टर डुगलके सम्पर्कमें आये। उस समय रंगूनके कतिपय प्रतिष्ठित भारतीयोकी एक बैठक सर आदमजी हाजी दाऊदके निवासस्थानपर हुई थी जिसमे "बर्मा इण्डियन असोसियेशन"की स्थापनाके सम्बन्धमे निश्चय हुआ। उसके प्रथम मन्त्री सरदार बहादुर डा० आर० एम० डुगल निर्वाचित किये गये थे और आप सन् १९३२ तक उक्त पदको सुशोभित करते रहे। उसके बाद दादा चान्जी उक्त कार्यको सॅभालने लगे। सरदार बहादुर डुगल सर्वदा उसकी कार्यकारिणीके एक ऐसे सदस्य रहे जिसकी सम्मतियाॅ अतीव मूल्यवान् समझी जाती थी।

दादा चान्जीका कहना है कि सन् १९४२ तक सरदार बहादुर डुगल बर्माकी भारतीय जनताके एक प्रमुख नेता माने जाने लगे थे और रंगून कार्पोरेशन तथा मेडिकल असोसियेशनके आप प्रमुख सदस्योमेसे थे। कार्पोरेशनकी सदस्यतासे आपकी ख्याति विशेष रूपसे बढ़ी। सन् १९३७ मे बर्माके भारतसे अलग होनेके बाद सन् १९३९-४० में बर्माके भारतीय नेताओका एक शिष्टमण्डल भारत गया था। डाक्टर डुगल उसके एक सदस्य थे। इसके अन्य सदस्य सर्वश्री तैयबजी, आर० जी० ऐयंगर, एस० एन० हाजी और स्वयं दादा चान्जी रहे। आप लोग "बाजपेयी-रिपोर्ट"से सम्बन्धित पहलुओंपर विचार-विमर्श करने गये थे। दादा चान्जीका कथन है कि उस समय डा० डुगलकी योग्यतासे आप अत्यन्त प्रभावित हुए थे। बर्माके भारतसे अलग होनेके कारण यहाॅके भारतीयोंके सामने जो विविध प्रश्न उपस्थित हो गये थे उनपर शिमला तथा दिल्लीमें विचार-विमर्श होनेके समय 'प्रश्नोको समझने और उनका समाधान प्रस्तुत करनेमे जिस

प्रत्युत्पन्नमतित्व और तात्कालिक सूझोका परिचय डाक्टर डुगल देते रहे वे अद्भुत थी।

युद्ध प्रारम्भ होनेपर जब आपका बर्मासे भारत जाना हुआ तो माण्डले, मनीया, तम्मू, इम्फाल और दीमापुर होते डा० डुगल और दादा चान्जी साथ ही सन् १९४२ के अप्रैलमें कलकत्ता पहुँचे। वहाँसे आप लोग दिल्ली आये। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके तत्कालीन अध्यक्ष मौलाना अबुलकलाम आजाद और अन्य नेताओ पंडित जवाहरलाल नेहरू और भूलाभाई देसाईसे आप लोगोने भेट की। बर्माके विस्थापित भारतीयोकी सहायताके लिए पंडितजीने एक अपील लिखकर दी, जिससे प्रभावित हो इण्डियन चैम्बर आफ कामर्सके तत्कालीन प्रधान श्री घनश्यामदास बिड़लाने "बर्मा इण्डियन इवैकुईज आर्गे-नाइजेशन" स्थापित किया। इस सिलसिलेमे आप लोगोने दो बार राष्ट्रपिता महात्मा गांधीका भी दर्शन किया था और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। इस संस्थाके माध्यमसे विस्थापित भारतीयोकी यथासाध्य सहायता की जाने लगी।

लेखकने स्वयं सरदार बहादुर डुगलको आई० ई० एस० सेण्ट्रल हाई स्कूलकी प्रबन्धक समिति और कांग्रेसके अध्यक्षके रूपमे देखा था। युद्धकालमें भारतीय बच्चोकी शिक्षाके प्रतिष्ठान-के रूपमें केवल "विश्व-भारतीय एकेडमी" थी। युद्धके बाद कति-पय उन भारतीयोंने जो बर्माके भारतीय बच्चोकी शिक्षाका दायित्व अपनेपर समझते है, एक "इण्डियन एजुकेशनल सोसाइटी" (आई० ई० एस०) की स्थापना की। उनकी धारणा सम्पूर्ण बर्मा-के भारतीय बच्चोकी शिक्षाका केन्द्रीयकरण इस सोसाइटीके माध्यमसे करनेकी रही। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए सोसाइटीके अन्तर्गत सन् १९५०से सेण्ट्रल हाई स्कूल प्रारम्भ किया गया और उसकी प्रबन्धक समितिके अध्यक्ष सरदार बहादुर डा० डुगल और

मन्त्री श्री बी० के० दादा चान्जी निर्वाचित हुए। स्कूलके प्रधानाध्यापक श्री रामशरणदास जोशी बी० ए०, बी० टी० नियुक्त हुए। स्वयं जोशीजी एक अनुभववृद्ध शिक्षक हैं। बर्मापर जापानी शासन होनेसे पहले वे वर्षोंतक सरकारी हाई स्कूलोंके उच्चस्तरीय अध्यापक थे। आई० ई० एस० सेण्ट्रल हाई स्कूलके प्रधानाध्यापक-पदको अङ्गीकार करनेसे पहले भी वे पेगू जिलाके न्याग्लेविन तहसीलके हाई स्कूलके प्रधानाचार्य थे। इन अनुभवोंके अतिरिक्त अपना दायित्व समझनेकी उनमें स्वभावगत क्षमता तो थी ही और ऐसे प्रधानाध्यापकको पाकर उक्त विद्यालयकी प्रगति होना स्वाभाविक था। साथ ही बी० के० दादा चान्जी जैसे मन्त्री और सरदार बहादुर डा० डुगलके बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्त्वके कारण इस विद्यालयकी विशेष उन्नति हुई।

जैसा पहले बताया गया है, डा० डुगल अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेसके जन्मदाताओंमेंसे एक थे। उसकी कार्यकारिणीके तो वे निरन्तर सदस्य रहे। अध्यक्ष-पदको भी आपने दो बार अलंकृत किया था। कांग्रेसके माध्यमसे भारतीयोंको बहुत-कुछ मार्गदर्शन मिलता रहा और त्राण भी। इसका यश डा० डुगलको भी मिलना चाहिये। आपके व्यक्तित्वकी और विशेषताएँ भी थीं। आप सिख धर्मके अनुयायी थे। अपने धर्मके प्रति आपकी कट्टर आस्था थी, जो एक आदर्श चरित्रवान् पुरुषकी निशानी है। आप रंगून गुरुद्वारेके वर्षोंतक अध्यक्ष रहे।

बर्माके भारतीयोंके मध्य डा० डुगलकी एक निराली हस्ती थी। यदि वे सिखोंके धार्मिक नेता थे तो राजनीतिज्ञोंके राजनीतिक गुरु, और मुसलमान भी उन्हें कुछ कम इज्जतकी निगाहसे नहीं देखते थे। उर्दूके मुशायरेके समय तो वे बहुधा डाक्टर डुगलको सभापतिपद सुशोभित करनेके लिए आमन्त्रित किया

करते थे। डा० डुगलका जन्म भारतके पंजाब प्रान्तके रावल-पिण्डी जिलेमें सन् १८९७ में हुआ था। आपकी शिक्षा वहीं हुई थी। आपकी कर्मभूमि बर्मा रही, किन्तु जीवनके अन्तिम दिन आपके भारतमें ही बीते और सन् १९५७ की २० जनवरीको दिल्लीमें आप स्वर्गवासी हुए।

: १५ :

पुण्यश्लोक लाठियाजी

विगत विश्वमहायुद्धसे पूर्व रंगूनसे "बर्मा समाचार" नामक हिन्दीके एक दैनिकपत्रका प्रकाशन होता था। सन् १९३८-३९ में उसके सम्पादक श्री लालबहादुर पाण्डेय थे। आप जौनपुर जिलाके चन्दवक कस्बेके पासके मनियारेपुर ग्रामके निवासी थे। इस पत्रके संचालक पुण्यश्लोक श्री एल० बी० लाठिया थे।

लाठियाजीके जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अनाथालयकी स्थापना थी। इस अनाथालयका भवन और बगीचा रंगूनसे सात मील उत्तर तिगाजुनके इलाकेमे ऊ सां पे रोडपर अवस्थित है। इसके माध्यमसे आपने हिन्दू समाजकी महान् सेवा की। जियावडीके कुछ हिन्दू बच्चे टॉगूकी क्रिश्चियन मिशनरियोकी शरणमें चले गये थे और वे ईसाई धर्ममें दीक्षित होने ही वाले थे कि इतनेमें टॉगू हिन्दी स्कूलके अध्यापकोंको यह बात मालूम हो गयी और उन्होने उन बच्चोंको लाठियाजीके अनाथालयमे भेजवा दिया। आपके अनाथालयमें सब प्रकारकी व्यवस्था थी। भोजन-वस्त्रके अतिरिक्त शिक्षाकी भी व्यवस्था आपने कर रखी थी। रंगूनके हिन्दी दैनिक 'प्राची-प्रकाश'के वर्तमान सम्पादक श्री सी० एल० ठक्कर उसी विद्यालयके एक स्नातक है।

बर्मामें लाठियाजी हिन्दू महासभाके वर्षोंतक अध्यक्ष रहे। इस सभाके माध्यमसे हिन्दुओमें सांस्कृतिक जागरणका काम सर्वदा होता रहता था। हिन्दू महासभाके अन्य कर्मठ कार्य-कर्ताओमें श्री डंगाली थे। उसके जन्मदाताओमे पं० त्रिशूलधारी

ओझा भी एक थे। यदि और अधिक विवरणमें न जाया जाय, केवल इन तीन महान् कार्यों, हिन्दी-पत्र संचालन, अनाथालयकी व्यवस्था और हिन्दू महासभाको ही दृष्टि-विन्दुमें रखा जाय तो भी लाठियाजीके व्यक्तित्वका महान् स्वरूप सामने आ जाता है।

युद्धकालमें सन् १९४२ के जुलाई महीनेमे दक्षिणी पूर्वी एशियामे 'इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स लीग'की स्थापनाके लिए स्वर्गीय रासबिहारी बोसके सभापतित्वमे बंकाकमे जो सम्मेलन हुआ था उसमे भाग लेनेके लिए बर्माके भारतीयोके प्रतिनिधिके रूपमें आप गये थे। आपकी वहाँसे वापसीके पश्चात् लीगकी बर्माकी 'टेरिटोरियल कमेटी'का निर्माण हुआ। उसके अध्यक्ष श्री बालेश्वर प्रसाद चुने गये, यद्यपि लाठियाजी उसके प्रथम विधायक थे। युद्धकालमें एक-न-एक सेवा कार्यमे आप लगे रहे। युद्धके बाद स्थितिका रूप ही बिलकुल बदल गया। नयी संस्थाओके संघटन होने लगे। लाठियाजी फिर सार्वजनिक रंग-मंचपर आये, परन्तु बहुत दिनोतक नहीं टिके। एक-दो संस्थाओंके उत्पत्ति-विलयके बाद अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेसकी स्थापना हुई। इस संस्थाने तीन सार्वजनिक कार्यकर्ताओंको इस प्रकार एक साथ ला दिया कि लाठियाजी ही नहीं, कोई भी दूसरा भारतीय नेता नहीं उठ पाया और न कांग्रेसके सिवाय दूसरी संस्था ही। ये कार्यकर्ता थे श्री एम० ए० रशीद, दीनानाथ जी और स्वर्गीय सरदार बहादुर डा० आर० एस० डुगल। श्री रशीद रंगून विश्वविद्यालयके छात्र रहनेके समयसे ही बर्मी राजनीतिक क्षेत्रके एक कार्यकर्ता रहते आये थे। श्री दीनानाथजी युद्धकालमे आजाद हिन्द बैंकके मैनेजरकी हैसियतसे अच्छी ख्याति अर्जित कर चुके थे और सरदार बहादुर डा० डुगल रंगून कार्पोरेशनके युद्धपूर्वकालमें मेयर रह चुके थे। जब कांग्रेससे अलग होकर श्री लाठियाने सन्

१९५१ में अखिल बर्मा बर्मन हिन्दू लीगकी स्थापना की। आपकी धारणा यह थी कि जिन हिन्दुओने बर्माकी नागरिकता ले रखी है उनका एक अलग संघटन हो, परन्तु वे इस संकल्पको सँजोये ही रह गये। बर्मन हिन्दू कांग्रेसको विकसित रूप नहीं दे पाये और सन् १९५२ के १५ मार्चको स्वर्गवासी हो गये।

ब्रह्म-समाज, डाक्टर पाल और टाँगू

ईसाकी १९वीं शतीके प्रारम्भके भारतीय इतिहासपर दृष्टि डालनेसे एक ऐसा अद्‌भुत व्यक्तित्व सामने आता है जिसने देश-को एक नयी ज्योति प्रदान की थी। वह व्यक्तित्व है, "सर राजा-राममोहन राय" का। भारतके लिए तो आपकी अनेक देनें थी हीं, संसार-के लिए भी उनकी एक विशेष देन थी। आपने ब्रह्म-समाज नामक एक नये मतका प्रतिपादन किया था। इसके मूला-धार यद्यपि हिन्दू धर्मके सिद्धान्त थे, किन्तु ईसाई धर्म और इस्लामके ऊँचे आदर्शोंका भी इसमें पुट था।

डाक्टर आर० डी० पाल

बर्माके टाँगूनगर-निवासी डाक्टर आर० डी० पालमें सर-राजा राममोहनरायके धार्मिक विश्वास एवं अन्य वैयक्तिक गुण प्रतिबिम्बित हुए हैं। हाई स्कूलकी परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण

होनेके पश्चात् डाक्टर पालने लाहौरके दयालसिंह कालेजमे अध्ययन आरम्भ किया, जो 'ब्रह्म-समाज'के सिद्धान्तोंके प्रचारका एक केन्द्र था। आज डा० पालका विचार इस ऊँचाईपर पहुँच चुका है कि आप धर्मके बन्धनोंसे मुक्त है, मानवमात्रके कल्याणकी सोचने और उसके अनुरूप आचरण करनेको ही आप सबसे बड़ा धर्म मानते है। इसपर भी आपको एक हद्तक ब्रह्म समाजके सिद्धान्तोका पोषक कहा जा सकता है। ऐसे धार्मिक आदर्शोंके साथ-साथ सामाजिक साम्यका क्रियात्मक स्वरूप डाक्टर पालके व्यक्तित्वमे मिलता है।

पंजाबसे सन् १९२०मे आनर्सके साथ एम० बी० बी० एस०की परीक्षा पास करनेके पश्चात् आप ६ वर्षोंतक चिकित्साकार्य करते रहे और सन् १९२६ मे पोस्ट ग्रैजुएटके अध्ययनके लिए "बर्मा स्टेट स्कालरशिप" पर लन्दन गये। पिता डा० आर० आर० पालकी आकस्मिक मृत्युके कारण आप बिना कोर्स पूरा किये ही वापस आ गये। किन्तु फिर भी जो कुछ शिक्षा आपको मिल चुकी थी वह भी थोड़ी नहीं कही जा सकती। आपके चिकित्सालयमें सर्वदा भीड़ लगी रहती है, फिर भी बैक बैलेन्स नहींके बराबर ही रहता है। यहॉ गरीबोंकी तो मुफ्त चिकित्सा होती ही है, जिनसे औषधिका मूल्य लिया भी जाता है उसमें भी बड़े-छोटेके भेद-भावकी गन्धतक नहीं होती। एक व्यक्तिकी खतरनाक स्थिति भले ही डाक्टर पालका ध्यान अपेक्षाकृत अधिक आकर्षित कर सकती है, परन्तु उसका पद या प्रभाव नहीं। कर्मकी प्रधानता और उसके फलाफलको इतना महान् स्थान देनेवाला व्यक्ति कमसे कम लेखकको बहुत कम दीखते है। डाक्टर पालने पंजाबके एक ब्राह्मण-कुलको सुशोभित किया है। आप कभी-कभी मौजमे आकर कह भी पड़ते है, "मिश्रजी, हम शांडिल्य गोत्रके वह ब्राह्मण है, जिन्होने किसी दिन पंजाबमें

राज्य किया था। राजा अनंगपाल हमारे ही पूर्वज थे।"

अखण्ड भारतके कालमें 'भोजन'के विषयमें अखिल भारतीय स्तरपर हुई लेख-प्रतियोगितामें डा० पालको प्रथम पुरस्कार मिला था। आपका शाकाहारमे विश्वास है। विशुद्ध शाकाहारीके साथ-साथ किसी प्रकारकी नशीली वस्तुके प्रयोगके आप कट्टर विरोधी है। ऐसा लगता है मानो इन्द्रिय-निग्रहमें इस पुरुषने सिद्धि प्राप्त कर रखी हो! सन् १९३८मे जियावडी आनेके समयसे ही लेखक डा० पालकी ख्याति सुन चुका था, हिन्दुओके वर्णाश्रम धर्मके अनुसार डा० पाल इस समय बाण-प्रस्थ आश्रमको सही अर्थमे निभा रहे है। आपकी अवस्था इस समय ६५ वर्ष है और आपके एक पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हैं और तीनो ही सम्प्रति इंग्लैण्डमें शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

डाक्टर पाल एक ऐसे वक्ता है जो किसी विषयपर भी बिना तैयारीके किसी समय भी सारगर्भित एवं प्रभावोत्पादक ओजस्वी भाषण कर सकते हैं। वे प्रत्येक समुदायके व्यक्तियो द्वारा समादृत हैं। विगत विश्वयुद्धसे पूर्व श्री मैकडूगल आई० सी० एस० ने एक 'सज्जन' में क्या-क्या गुण होने चाहिये इसका विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा था कि डाक्टर पाल सच्चे अर्थोमे सज्जन है।

इसी प्रकार ए० जे० एम० लैंडरने अपना मत व्यक्त करते हुए एक अवसरपर कहा था कि "डाक्टर पालको यदि आध-घण्टाका ही समय दिया जाय तो भी ऐसा कोई आयोजन नहीं है जिसे वे सफलतापूर्वक सम्पादित करके न दे दे।" श्री बल्कलो, आई० ई० एस० ने एक बार आपके भाषणसे प्रभावित होकर कहा था कि "डाक्टर पालको बैरिस्टर होना चाहिये"।

टॉगूकी जुबली लायब्रेरीमे पहले अत्यन्त अल्प संख्यामे पुस्तकें थीं, परन्तु जबसे डाक्टर पालने उसके मन्त्रित्वका काम सँभालना

प्रारम्भ किया तबसे उसमें पुस्तकोकी इतनी वृद्धि होने लगी कि इस समय बर्मामें यह पहली लाइब्रेरी (पुस्तकालय) है, जिसको संयुक्त राष्ट्रसंघके शिक्षा और सांस्कृतिक विभागसे मान्यता मिली है। बच्चोकी चिकित्साका टॉगूमे कोई केन्द्र नहीं था, परन्तु डाक्टर पालके सदुद्योगसे यहाँ एक ऐसे बालक-हित-रक्षक केन्द्रका निर्माण किया गया, जिसकी देख-रेखके लिए दिल्लीसे शिक्षा पायी हुई देवियाँ बुलायी गयी थीं।

ऊपर उल्लिखित गुणोंके साथ-साथ डाक्टर पाल एक पत्रकार भी है। आप "टॉगू वर्ल्ड" और "टॉगू फोरम" नामक पत्रोके सम्पादक तथा रंगूनसे प्रकाशित होनेवाले "रंगून-टाइम्स" और "रंगून गजेट"के संवाददाता रह चुके हैं। युद्धकालमे आप टॉगू जिलाके सिविल सर्जन थे। इस पदपर रहकर आपने जनताकी प्रशंसनीय सेवा की थी।

सन् १९४९ की २६ जनवरीको टॉगू शहरपर और उसके थोड़े ही समय पश्चात् सम्पूर्ण जिलापर बागी करेनोका कब्जा होनेके फलस्वरूप पास-पड़ोसके दो हजार शरणार्थी भारतीय टॉगूमे एकत्र हो गये थे! उनको वहाँसे रंगून भेजनेके कार्यमें आपने स्तुत्य योगदान किया था।

सन् १९५० मे आपने लन्दनकी यात्रा की थी और वहाँ विश्व-धर्म-सम्मेलनमें एक बक्ताके रूपमें भाग लिया था। पुनः सन् १९५८ में आपने "फेलोशिप आफ फेथ्स" के सम्मेलनमें लन्दनमें भाग लिया था। टॉगू, बर्माका एक सुविख्यात जिला है। एक समयमें टॉगू नगर बर्मी राजाओकी राजधानी भी रहा था। इसका किला आज भी उस प्राचीन गौरवका जाज्वल्यमान प्रतीक है। इस नगरके दो ओर सितांग नदी है। युद्धपूर्व-कालमें इसकी आबादी काफी घनी थी। विशाल पक्के बहुसंख्यक निवासगृहके अतिरिक्त, अच्छा बाजार, सरकारी चिकित्सालय, रेलवे स्टेशन

और अनेक विद्यालयोके भवन तथा खेलके मैदान थे। दुर्भाग्यवश विगत विश्वयुद्ध-कालमें ये सभी ध्वस्त हो गये थे और अभी धीरे-धीरे नगरका पुनर्निर्माणकार्य चालू है। इसी स्थलपर यह उल्लेख करते हुए परम हर्ष हो रहा है कि टॉगूके प्राचीन गौरवके अवशेषोंके नामपर और कुछ हो अथवा न हो, परन्तु उसकी सजीव मूर्तिके रूपमें डाक्टर पाल वहाँ विद्यमान है, जिनके जीवनसे चालू पीढ़ी सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न बर्मा राष्ट्रके भव्य निर्माणमें आशातीत प्रेरणा प्राप्त कर सकती है। डाक्टर पाल टॉगूके म्युनिसिपल कमिश्नर, आनरेरी मजिस्ट्रेट, डिस्ट्रिक्ट स्काउट कनिश्नर, मेम्बर आफ हास्पिटल कमेटी, बाल-हित-रक्षक केन्द्रके मन्त्री, जुबली लाइब्रेरीके मन्त्री, ऐथेलेटिक असोसियेशनके सदस्य, अखिल बर्मा भारतीय कांग्रेस की टॉगू शाखाके अध्यक्ष, अखिल बर्मा पोस्टल अधिवेशनके स्वागताध्यक्ष, और फेलोशिप आफ फेथ्सके संचालक इत्यादि पदोको अलंकृत कर चुके है। प्रथम विश्व-युद्धके समय डाक्टर पाल इराक भी गये थे। आपके सहोदर कनिष्ठ बन्धु श्री बी० पी० पालको भारत सरकारने गत वर्ष "पद्मश्री"की उपाधिसे अलंकृत किया था। वे भारतकी केन्द्रीय सरकारके कृषि-विभागके डाइरेक्टर है। आपके बड़े भाई एक अवकाशप्राप्त आई० एम० एस० हैं।

: १७ :

ठाकुर मथुरासिंह

बर्माके प्रवासी भारतीयोके मध्यके जनसेवी एवं मेधावी पुरुषोके जीवनकार्योंका उल्लेख करते हुए स्वर्गीय ठाकुर मथुरासिहके बारेमे कुछ लिखना आवश्यक है। मुझे पूर्ण स्मरण है कि शैशव कालसे ही मैं उनकी कीर्ति सुना करता था। ये बाते अधिकांशतः वे व्यक्ति बताते थे जो बर्मामे कुछ काल बिताकर भारत वापस आते थे। मै स्वयं बर्माकी अन्य अनेक विभूतियोकी तरह ही ठाकुर साहबके सन्निकट भी जियावडीके किसानोके आन्दोलनके सिलसिलेमे आया।

ठाकुर मथुरासिह किसान-आन्दोलनमे क्यो कूदे इसकी भी एक अलग ही कहानी है। जियावडी किसान-सभाके अध्यक्ष ब्रह्मचारी बलभद्राचार्य वहाँ सन् १९३५ मे आये और वे कुछ समयतक ही किसानोके बीच काम कर सके थे कि उनपर बलवा करानेका मुकदमा चल गया और अन्ततः उन्हे दो वर्षोंके सख्त कारावासकी सजा मिली। सजाकी अवधि भुगतकर जब वे जेलसे बाहर निकले तो पास-पड़ोसमे रहनेका स्थान उन्हे मिलना कठिन हो गया। एक सजायाफ्ताको, वह भी जो ब्रिटिश साम्राज्यशाहीके दिनोमे किसान कार्यकर्ता होनेकी छाप ले चुका हो और फिर एक जागीरदार तथा मिल-मालिककी इच्छाके विरुद्ध, भला कौन आश्रय देनेका साहस कर सकता था? ठाकुर मथुरासिह अशरणके शरण तो थे ही, साधु-ब्राह्मणोंको तो वे भरसक कभी भी विमुख नही होने देना चाहते थे और उस समय जब उनके

सामने यह बात आयी तो यद्यपि वे पिंजरस्थ शेरकी अवस्थामे थे—ठेके आदिका काम बन्द करके कालक्षेपणभर कर रहे थे—उन्होने ब्रह्मचारीजीको अपने यहाँ स्थान दिया और उनके अभिभावकत्वका बोझ तथा किसानोके नेतृत्वका दायित्व अपने ऊपर लिया।

ब्रह्मदेशके भारतीयोंके सम्मानकी रक्षा तथा उनमे सांस्कृतिक जागरण लानेके, ठाकुर साहबके कार्योकी जानकारी करनेकी जिज्ञासा लेखकने साधारणतया अनेकके समक्ष व्यक्त की, परन्तु जब किसीके उत्तरसे किञ्चित् भी सन्तोष नही हुआ तो उनके समकालीन नेता पं० हरिबदन शर्मासे इसके बाबत पूछा और उनके सम्बन्धमें थोड़ा-बहुत जो कुछ जाना जा सका वह इस प्रकार है।

शर्माजीका कहना है कि बीसवी सदीके प्रथम भाग बल्कि सन् १९३० और ३२ तक जो सम्मान ठाकुर मथुरासिंहको रंगूनमे प्राप्त था, वह किसी उत्तरप्रदेशीय भारतीयको न तब प्राप्त रहा और न अबतक मिल पाया। हिन्दीका सर्वप्रथम पुस्तकालय ठाकुर मथुरासिहके ही निवासस्थानमें खुला और विश्वदूत कम्पनी, जिसने हिन्दीका सर्वप्रथम दैनिकपत्र 'विश्वदूत' बर्मामे शर्माजीके सम्पादकत्वमें प्रकाशित किया, ठाकुर साहबके ही सर्वाधिक सदुद्योगसे संघटित हुई थी। उन दिनो रंगून जटीमें जहाजपर चढ़ने और उतरनेवालोंकी जलालतभरी तलाशियाँ होती थीं। श्री मथुरासिहने उसका जबरदस्त विरोध किया। अन्ततः सरकारको उस स्थितिमे सुधार करना पड़ा। आपका स्वभाव बहुत ही दबंग था और किसी भी हालतमें आप अनुचित बात बरदाश्त नहीं करते थे। उनके एक ठेकेके काममे किसी अंग्रेज इंजीनियरने अनुचित नाप-जोखसे काम लेना चाहा जिससे वे रोषमें आ गये और उसे मारनेपर तुल गये, यद्यपि इसका कुफल

उन्हें भारी नुकसानके रूपमे उठाना पड़ा था।

उनकी स्थायी कीर्तिके रूपमे अबतक मौजूद रंगूनकी हनुमान-गढ़ी है, जिसमे एक विद्यालय चल रहा है और यात्रियो तथा दीन छात्रोंको सर्वदा निःशुल्क आवास मिलता है। यहाँ प्रत्येक रविवारको सत्संग एवं मनोरंजन-कार्यक्रमके प्रदर्शनकी व्यवस्था अब भी है। आपकी दूसरी स्थायी कीर्ति मिम्बूकी ठाकुरबाड़ी है। मिम्बू रंगूनसे लगभग ३५० मील दूर तरलतरंगा इरावदीके तटपर बसा हुआ नगर है। यहाँके मन्दिरके निर्माणके कारणके बारेमे मिम्बूके कतिपय नागरिकोने लेखकको बताया कि इससे पहले एक ही मन्दिर वहाँ था जिसकी देख-भाल मिलिटरीके आदमी करते थे। एक अवसरपर किसी यात्री साधुको उसके प्रबन्धकोने टिकने नहीं दिया जिससे क्षुब्ध हो ठाकुर साहबने वर्तमान मन्दिरके निर्माणका संकल्प किया और वहाँके मारवाड़ी समुदायके सामर्थ्यवान् भारतीयोसे सहयोग लेकर उसे पूरा करके छोड़ा। उन दिनो आपके ठेकेका काम मिम्बू तथा मेग्वेमें भी चल रहा था। मिम्बूके हाईकोर्टकी इमारत आपकी ही बनवायी हुई है। उसके निर्माणकालमे भी एक इंजीनियरकी, जो भारतीय ही थे, गतिविधि अवांछित होनेपर एक बार अत्यन्त क्रुद्ध हुए थे।

रंगूनमें अपने निवासस्थानमे दीवारपर भारत-भूषण महामना पं० मदनमोहन मालवीयका एक फोटो अत्यन्त आदरसे आपने टाँग रखा था और संध्या-तर्पणके समय उसकी पूजा वे विधिवत् धूप-दीप, पुष्प, अक्षतादि चढ़ाकर करते थे। एक बार उनकी तबीयतमे पता नहीं क्यो यह बात आयी कि बोले "मै पंडितजीके ही (पण्डित मदनमोहन मालवीय) रास्तेको पसन्द करता हूँ।" तब तो यह बात मुझे साधारण-सी लगी, किन्तु अब सोचता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि ठाकुर साहबके कहनेका तात्पर्य यह था कि वे 'हिन्दुत्व और हिन्दी' की सेवाको सबसे

ऊँचा स्थान देते थे।

विश्वयुद्ध प्रारम्भ होनेपर भारत जानेके समय वे जियावर्डी होते हुए गये। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि मैं भी साथ हो लेता। युद्ध समाप्त होनेके बाद जब भारतसे आवागमन शुरू हुआ तो सबसे पहले मैंने ठाकुर साहबका कुशलक्षेम जानना चाहा, किन्तु यह सुनकर आन्तरिक वेदना हुई कि वे स्वर्गवासी हो गये। बर्मासे भारत जाते ही वे सेवारत हो गये थे। आप जोनपुर जिलाके केराकत तहसीलके डोभी इलाकेमे बड़ीहा नामक ग्रामके निवासी थे। भारतमे सन् १९४२ के क्रान्तिकारी आन्दोलनके सिलसिलेमे भी आप कुछ समयतक नजरबन्द रखे गये थे। डोभी इलाकेके करां नामक स्थानपर इस समय जो हाईस्कूल है उसके कार्योंमे आप यथासम्भव निरन्तर लगे रहे। ठाकुर मथुरासिहने जिस क्षेत्र और कुलमें जन्म लिया था उसमे जनसेवकोंकी कमी नहीं, और खासकर जब ठाकुर साहबके आध्यात्मिक एवं नैतिक शौर्यके प्रतीकस्वरूप आचार्य बीरबल सिह जैसे राष्ट्रीय नेता विद्यमान है। रही बात बर्माकी। इस जनको यह आशा है कि जिस सेवा-भूमिको ठाकुर साहबने अपने और अपने समकालीन सेवकोंके त्याग एवं तपसे तैयार किया था वह भी अनुर्वरा नहीं रहेगी।

: १८ :

तखिन सेनगुप्त

सन् १९४० के फरवरी महीनेमें टॉगूमें अखिल ब्रह्मदेशीय किसानोंके एक बृहद् सम्मेलनका आयोजन हुआ था। जियावडीसे सैकड़ोंकी संख्यामें भारतीय किसान उसमे भाग लेनेके लिए गये थे। किसानोंके छोटे-बड़े दस-पॉच रहनुमा भी थे और उन्हींमें एक यह जन भी था। कुछ लब्धप्रतिष्ठ राजनीतिक नेता रंगूनसे भी वहॉ गये हुए थे। तखिन सुकुमार सेनगुप्त ७ वर्षोंतक राजनीतिक कार्यकर्ताकी हैसियतसे कारावास भुगतनेके बाद कुछ ही दिनों पहले बाहर आये थे और वे भी सम्मेलनकी देखरेख करनेके निमित्त वहॉ पहुँचे थे। वे क्षीणकाय थे; विशुद्ध खद्दरकी धोती, उसपर खादीका ही लम्बा कुर्ता और काले रंगका लम्बा कोट पहनते थे। बाल इतने लम्बे और सजे थे कि मुखाकृतिकी दुर्बलताको ढॅक लेते थे। बर्मी स्वतन्त्रता-संग्रामके चोटीके सेनानियोंमेंसे एक इस भारतीय रत्नको देखनेका वह मेरा पहला अवसर था।

उसके कुछ मास बाद उन्हें जियावडी किसान-सभाके कार्यालयका कार्यभार सॅभालते देखनेपर मालूम हुआ कि ब्रह्मचारी बलभद्राचार्यकी जगह इन्हे ही सभाके अध्यक्ष श्री बी० के० दादा चान्जीने महामन्त्री नियुक्त करके रंगूनसे भेजा था। फिर तो साथ ही रहनेका अवसर मिल गया। सेनगुप्तजीके महामन्त्री होनेके बाद किसान-सभाके कार्यालयमें जागर्ति आयी परन्तु किसानोंमे पुनर्जागरण आना असम्भव था। सेनगुप्तजीसे यह कार्य होना इसलिए भी कठिन था कि कार्य-प्रणालीका जो धरातल इनका था

उसमें और तबके जियावडीके किसानोके नैतिक, शैक्षिक और मानसिक स्तरमे जमीन-आसमानका भेद था। ये सम्पूर्ण बर्मा या कहिये एशियाकी आजादीकी बात सोचा करते थे और किसान अपनी लगान थोड़ी कम करानेकी ही फिक्रमे रहते। एक भिन्नता और भी थी। सेनगुप्तजी बंगाली बाबू थे और किसान खॉटी 'बिहारी' ग्रामीण। सेनगुप्तजीको न 'ओझाई' का शऊर था न 'सोखाई'का। त्रिफला और लवण-भास्कर चूर्ण भी जरूरत पड़नेपर नहीं दे सकते थे। अब जो उनके लिए ऐसा बेकामका नेता हो उसका कहना यदि किसान न सुनें तो भला उनका भी क्या दोष ? अखिल ब्रह्मदेशीय स्तरकी राजनीतिसे उनका घना लगाव निरन्तर रहा। इधर-उधरकी बातें चलाते हुए एक बार मैंने कुछ प्रश्न किया जिसके उत्तरमे सेनगुप्तजीने जो कुछ कहा वह अभी भी शब्दशः स्मरण है। उन्होने कहा, "श्यामाचरणजी, हमारे जियावडीके आदमी बर्माके लिए राजनीतिज्ञ नहीं बनेंगे। ये जिस तरह दबे हैं, ऐसे ही रहेगे तो इनकी तीसरी पीढ़ी दुनिया-को थोड़ा समझना शुरू करेगी।" इस तरहकी मर्मवेदनाभरी बातें वे बहुधा कह जाया करते थे। वे जियावडीके किसानोकी दयनीय स्थितिके प्रति सदा चिन्तित रहते थे। उनका सब प्रकारसे विकास देखना चाहते थे।

जियावडी किसान-सभाके मन्त्रीकी हैसियतसे करीब डेढ़ वर्षतक सेनगुप्तजीने काम किया। उसके बाद तो विश्वयुद्धने सम्पूर्ण दृश्य ही बदल दिया। २३ दिसम्बर सन् १९४१ को जब सर्वप्रथम रंगूनपर बमबर्षा हुई तो उस समय आप रंगूनमे थे और बमबारी में पड़कर आहत भी हो गये। स्वास्थ्यलाभके अभिप्रायसे आपने कुछ समय इधर-उधर बिताया और जापानियों-के बर्मापर कब्जा करनेके बाद आप जियावडी वापस पहुँचे। जापानी नियन्त्रणमें 'बी० आई० ए०'का वह शासनकाल था।

इसके सभी नेता सेनगुप्तजीको सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। इससे भारतीयोके हितोंकी, जहाँ भी ये थे, रक्षा होती रही। जियावडीमे आपके पदार्पणसे बहुत-कुछ सहायता और मार्गदर्शन मिला। यहाँ बाबू परमानन्द श्रीवास्तव और श्री बालेश्वरप्रसादसे अच्छी पटी। बालेश्वरप्रसाद और आप सन् १९४२ की जुलाईमें रंगून चले गये। इण्डियन इण्डिपेण्डेन्सलीगकी बर्माकी टेरीटोरियल समितिका निर्वाचन उन्ही दिनो हुआ। इस निर्वाचनमें श्री बालेश्वरप्रसाद अध्यक्ष, श्री देशपाण्डे, जो श्री रासबिहारी बोसके सचिव होकर जापानसे आये थे, महामन्त्री और सेनगुप्तजी राजनीतिक विभागीय सचिव निर्वाचित हुए। वास्तवमें इस निर्वाचनके विधायक सेनगुप्तजी ही थे। श्री बालेश्वरप्रसाद और देशपाण्डे तो बर्माके लिए नवागन्तुक थे।

तीनों ही सुलझे· दृढ़संकल्पवान् और स्वतन्त्रचेता थे। जापानियोकी सूझबूझ उन्हें प्रभावित नहीं कर सकती थी। ये उनके कठपुतले बनकर नहीं रह सकते थे। परिणामस्वरूप जापानियोके उच्चतम खुफिया विभागने, जिसे उनकी भाषामें 'हिकारी किकान' कहते हैं, एक-एक कर तीनोको अलग कर दिया। श्री बालेश्वरप्रसादको सिंगापुर भेजकर वहाँ नजरबन्द रखा। श्री देशपाण्डेको भी सिगापुर भेजकर वहीं रोकना चाहा था किन्तु वे जैसे-तैसे आनेकी अनुमति ले सके। सेनगुप्तजी अलग किये जानेके बाद जियावडी आये और आपने लगभग सम्पूर्ण युद्धकाल वहीं बिताया। जापानी आत्मसमर्पणसे थोड़े समय पहले तत्कालीन बर्मी सरकार और भारतीय आरजी हुकूमतमें कुछ मतभेद चल पड़ा था। इसलिए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस बर्मी भारत सीमाकी ओरसे रंगून वापस होते हुए सेनगुप्तजीको साथ लेते आये। उस भीषण क्रान्तिकालमे यह सेन-

गुप्तजीके व्यक्तित्वका ही प्रभाव था जिसने आजाद हिन्दकी आरजी सरकार और बर्मी नेताओंमे मतभेद नही होने दिया।

जब अंग्रेजोंने बर्मापर फिर कब्जा कर लिया तो बर्माके अनेक भारतीयोके साथ आप भी गिरफ्तार कर दिल्ली ले जाये गये। वहाँ लालकिलेमे आपके मुकदमेकी सुनवाई हुई और अन्ततः छोड़ दिये गये। लालकिलेसे छूटकर आप बंगालमे जाकर रुके हुए थे कि वहाँकी सरकारने आपको गिरफ्तार कर लिया और चार मासतक नजरबन्द रखा। नजरबन्दीसे छूटकर आपने आरा, पटना और बंजारीमे कुछ दिन व्यतीत किये। सन् १९४७ मे कुछ कालके लिए आप बर्मा आये और तुरन्त ही वापस चले गये।

सेनगुप्तजीकी महत्ताविषयक अनेकमेसे एक बात मुझे सर्वदा प्रेरक प्रतीत होती है। सन् १९४७ मे जब मै बंजारीमें (बिहार) उनसे मिलने गया और कई दिनोतक साथ ही रहा तो ऐसा प्रतीत होता था मानो वे बर्मी राजनीतिसे ऊब गये हो। बर्मा न आना चाहते हों। बातो ही बातोमे जब मैंने एक बार कहा कि "स्वतन्त्रताके लिए आपने संघर्ष तो बर्मामे किया और अब वहाँ रहना नहीं चाहते", तो उन्होने सहसा उत्तर दिया, "यही क्या कम महत्त्वपूर्ण है कि एक भारतीय जबतक वहाँ रहा बर्मी स्वतन्त्रता-संग्राममे सक्रिय भाग लेता रहा।" फिर जब मैने कहा, आपके साथी ही तो मन्त्री होगे, तो उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया कि "शक्तिके लिए खींचातानी वहाँ कुछ दिन चलती ही रहेगी और मुझे इससे घृणा है।" आपने "अवर स्ट्रगिल ऐड रासबिहारी बोस" शीर्षक पुस्तककी पाण्डुलिपि तब तैयार कर ली थी और अब तो वह मुद्रित भी हो गयी है।

श्री सुकुमार सेनगुप्तका जन्म पूर्वी बंगालके चटगाँव नामक स्थानमें सन् १९११ मे हुआ था और बाल्यावस्थामे ही वह

अपने भाईके पास बर्माके पश्चिमी तटके नगर 'अक्याब'में आ गये थे। विद्यार्थीकालमें श्री सेनगुप्त अत्यन्त मेधावी रहे हैं और हाईस्कूलकी परीक्षामें जो आपने रंगून विश्वविद्यालयसे ही पास की। आपने अंग्रेजीमें सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। चटगाँव बंगालमें क्रान्तिकारी कार्योंका गढ़ था। अक्याब नजदीक होने के कारण अनेक क्रान्तिकारी फरारीकी हालतमें 'अक्याब' चले आते थे, जहाँ उन्हें सेनगुप्तसे हमेशा सहयोग और सहायता मिलती थी। किशोरावस्था और युवाकालमें क्रान्तिकारियोंके सम्पर्कसे देशप्रेमकी जो भावना सेनगुप्तमें पैदा हुई, उसीने आगे उन्हें बर्माके स्वातन्त्र्य-संग्राममें योगदानके लिए प्रेरित किया।
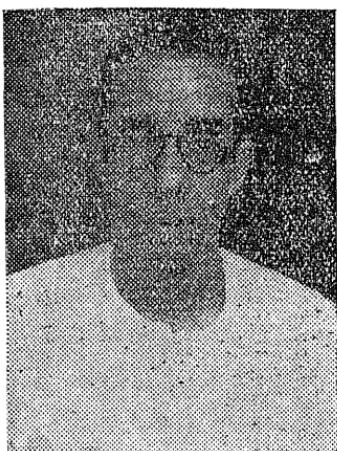
श्री सुकुमार सेनगुप्त

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

अतीतकी झलक

बर्मी कौमके आदिकालीन इतिहासके सम्बन्धमे पुरातत्त्व-बेत्ताओंने अभी भी शोध चालू कर रखा है और इसकी नितान्त आवश्यकता भी है। इसका लिखित इतिहास, जो अबतक सुलभ है, केवल एक हजार वर्षों पुराना है। बर्मियोकी आकृति मंगोलो और तिब्बतियो से मिलती-जुलती है। ये मंगोलिया अथवा तिब्बतसे चलकर उत्तरी बर्माके पर्वतीय प्रदेशोमे आये और कालान्तरमे इरावदी नदीकी घाटीसे होते हुए दक्षिण बर्माकी ओर बढ़ते और बसते गये।

बर्मी राजाओके शासनका प्रारम्भ सन् १०४४ से हुआ। इनका सर्वप्रथम राजा अनोरठा (अनिरुद्ध) था। राजधानी पगान थी। सन् १०५७ मे अनोरठाने दक्षिण बर्मापर आक्रमण कर वहाँके 'मोन'वंशीय राजाओको जीत लिया। मोन-राज्य समुद्रतटपर बसा होनेके कारण यहाँ भारतसे बौद्धधर्म-प्रचारक पहलेसे पहुँच चुके थे और इनकी भाषाकी लिपि भी थी। यह लिपि दक्षिणभारतसे गयी थी। इसे कादम्ब लिपि कहते है। फलतः, अनोरठाको जीतमे अन्यान्य निधियोके साथ ही बौद्धधर्म-ग्रन्थ एवं गुरु और वर्तमान बर्मी भाषाकी लिपि मिली।

दक्षिण बर्मा (डेल्टा) पर विजय प्राप्त करनेके कुछ ही काल बाद बर्मियोने तनासरिम और शान प्रदेशपर चढ़ाइयाँ कीं। यहाँसे भी उन्हे विपुल धनराशि एवं अन्य सामान जीत-मे मिले।

अनोरठा वंशका राज्य, जिसे पगान-वंश भी कहते हैं, सन् १०४४ से १२८७ तक रहा। यह वंश पगोडा (देवालय) निर्माताओं-का वंश कहा जाता है। इस वंशमे जितने भी शासक हुए, सबने अपनी-अपनी आस्था बौद्धधर्ममे प्रदर्शित करने तथा स्मृति चिरस्थायी बनानेके लिए पगोडे बनवाये।

पगान-वंशकी सत्ताका अन्त सन् १२८७ मे चीनके मंगोल सम्राट् कुबला खॉके आक्रमणके कारण हुआ। चीनी फौजें यहाँ टिकीं नहीं। युद्धकी लूट लेकर वापस चली गयी। फिर भी, पुनः बर्मी सत्ता शीघ्र नहीं स्थापित हो पायी। चीनी आक्रमणके बाद ही शानियोंका जोरदार प्रवेश प्रारम्भ हो गया। इससे बर्मी सत्ताकी पुनस्स्थापना तो रुक ही गयी बर्मी धीरे-धीरे दक्षिणकी ओर बढ़ने और बसने लगे।

सन् १५३९ मे बर्मी साम्राज्यकी पुनस्स्थापना हो सकी और अबकी बार पेगूमे राजधानी बनायी गयी। इस सत्ताकालमें बर्मियोके आक्रमण 'अराकान', 'शान-प्रदेश' और 'श्याम'पर भी होते रहे। पेगूके बर्मी राजा प्रजाके सुख-दुःखका ख्याल न करके केवल युद्धरत रहने लगे। कृषिकार्य बिलकुल बन्द हो गया। अकालकी स्थिति छा गयी। किसान असन्तुष्ट होकर राजाके विरोधमें असहयोग-प्रदर्शन करने लगे। अन्ततोगत्वा उन्होने जीतके साथ लायी गयी 'अराकानी' और 'शानी' फौजोकी सहा-यतासे सन् १६०० मे राजमहलपर आक्रमण करके सत्ताका अन्त कर दिया। बर्मी सत्ताका इस प्रकार अन्त हो जानेके बाद 'मोन-वंशियों'के सुदिन लौट आये और प्रथम बर्मी राजा अनो-रठा द्वारा अपहृत शक्ति उन्हे पुनः सुलभ हो गयी। सन् १६०० से १७५२ तक 'मोन' वंशीय सत्ता कायम रही।

सन् १७५२ मे अलांगफयाने पेगूपर आक्रमण किया और 'मोन' सत्ताका अन्तकर बर्मी साम्राज्यकी पुनस्स्थापना की।

अलांगफयाका जन्म एक किसानके घर हुआ था और अपनी अलौकिक प्रतिभा एवं वीरताके कारण ही वे साम्राज्य-स्थापनामे सफल हुए थे। अलांगफया-वंशका राज्य सन् १७५२ से १८८५ तक कायम रहा। इस वंशने पर्याप्त राज्यविस्तार किया। शान-प्रदेशपर चढ़ाई कर उसे जीता और कुछ कालतक वहाँ शासन भी किया। इनका आक्रमण अराकानपर भी हुआ और इन्ही दिनो बर्मी शासक अंग्रेजोके सम्पर्कमे भी आये।

सन् १८२१ का अराकानके मुख्य नगर अक्याबपर किया गया आक्रमण बर्मी इतिहासमे विशेष स्थान रखता है। इस बार बर्मी फौजोने पेगूसे नौ सौ मील दूर ब्रह्मपुत्रकी घाटीतक अभियान किया था, जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजोका ध्यान बर्माकी ओर आकृष्ट हुआ।

उक्त आक्रमणसे आतंकित बहुसंख्यक अराकानी भारतमे आ गये थे, जिन्हे बर्मी सेनापतियोने वापस माँगना शुरू किया। बर्मी और ब्रिटिश दृष्टिकोणमें भेद उपस्थित हो गया तथा विचार टकराने लगे। भारतस्थित तत्कालीन वाइसरायने एकके बाद एक ६ दूत भेजे, परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। मतभेद बढ़ता ही गया। सन् १८२४ मे बर्मी सेनाने बलपूर्वक भारतमे प्रवेश करना चाहा। सीमास्थल-निवासी भारतके भीतरी भागमे भागने लगे। अब ब्रिटिश और बर्मी शक्तियोका द्वन्द्व न रुक सका। ब्रिटिश सरकारने सामुद्रिक मार्गसे ११ हजार सैनिक रंगूनपर कब्जा करनेके लिए भेज दिये। ब्रिटिश-बर्मा युद्ध प्रारम्भ हो गया। ब्रिटिश सरकार कुमक भेजती रही और दो वर्षोंके युद्धके बाद सन् १८२६ तक अराकान और तनासरिम क्षेत्रोंपर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया। जब दक्षिण बर्माके इतने बड़े भागपर अधिकार हो गया तो आगे बढ़ना भी कठिन नहीं था और १८५२ में पेगूपर भी ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो गयी।

सन् १८५३ से ७८ तक अलांगफया वंशके राजा मिडोनका शासनकाल था। उस समय राजधानी मांडलेमे थी। मिडोन दूरदर्शी और व्यवहारकुशल शासक थे। उनकी नैतिकताकी भी प्रशंसा की जाती है। वे भारतस्थित ब्रिटिश वाइसरायके दूतोका स्वागत करते और उनके प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार रखते थे। सन् १८५७ की भारतीय सैनिक क्रान्तिके समय मिडोनके परामर्श-दाताओने पेगूपर आक्रमण करनेकी राय दी थी। परन्तु उन्होने यह कहकर इनकार कर दिया कि "जब एक मित्र आपदाओमें हो, उसपर प्रहार करना हम उचित नही समझते।"

सन् १८७८ मे मिडोनकी मृत्युके पश्चात् राजकुमार तीबोको गद्दीपर बैठाया गया। तीबोके शासन सँभालनेके समयतक बर्मामे ब्रिटिश सत्ता पूरी तरह कायम हो चुकी थी। अनेक अंग्रेजी कम्पनियाँ स्थापित थी। इन्हींमेसे "बाम्बे बर्मा ट्रेडिङ्ग कार्पोरेशन" नामक कम्पनीके साथ तीबोका मतभेद चल पड़ा। इसपर भारतस्थित ब्रिटिश वाइसरायने माँग की कि इस मतभेदको एक पंचायतके सामने रखा जाय और यह भी शर्त थी कि भविष्यमे राजा तीबो वैदेशिक सम्बन्ध स्वतन्त्र रूपसे नहीं रख सकते थे। ये माँगें बर्मी स्वायत्त शासकको खलीं और उन्होने मुँहतोड़ उत्तर दिया। वैदेशिक मामलोमें ब्रिटिश हस्तक्षेप उन्हें पसन्द नही था। किन्तु अंग्रेजोंका मांडलेपर अधिकार कर लेना कठिन नहीं था। उनकी सेनाने २८ नवम्बर, सन् १८८५को मांडलेके राजमहलको घेरकर तीबोको गिरफ्तार कर लिया और इस भाँति बर्मी शौर्यसूर्य, ४ जनवरी, सन् १९४८ को बर्मा गणराज्य घोषित किये जानेतक, ६३ वर्षोंके लिए अस्त हो गया।

परिशिष्ट २

बर्मी राजवंश
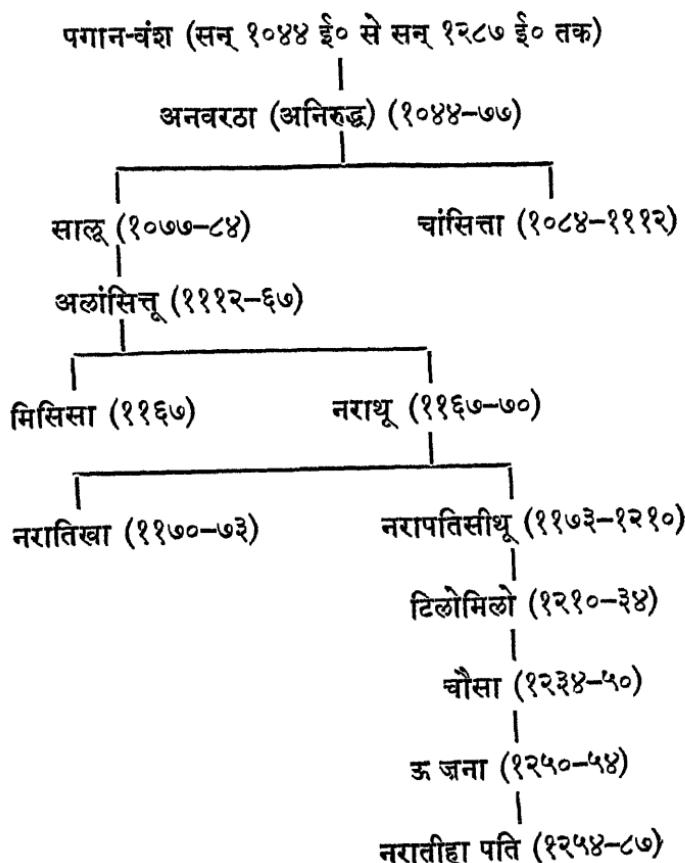
टॉगू-वंश (सन् १५३१ ई० से १७५२ ई० तक)

- टविनश्वेठी (१५३१–५०)
- बायीनांग (१५५१–८१)
  - नन्दाबायीं (१५८१–९९)
    - अनौपेल्लून (१६०५–२८)
      - पिण्डले (१६४८–६१)
        - नरावारा (१६७२)
        - मिनरेच्याडीन (१६७३–९८)
          - साने (१६९८–१७१४)
            - टानिगान्वे (१७१४–३३)
              - महाडम्याजाडीपति (१७३३–५२)
      - पी (१६६१–७२)
    - थालुन (१६२९–४८)
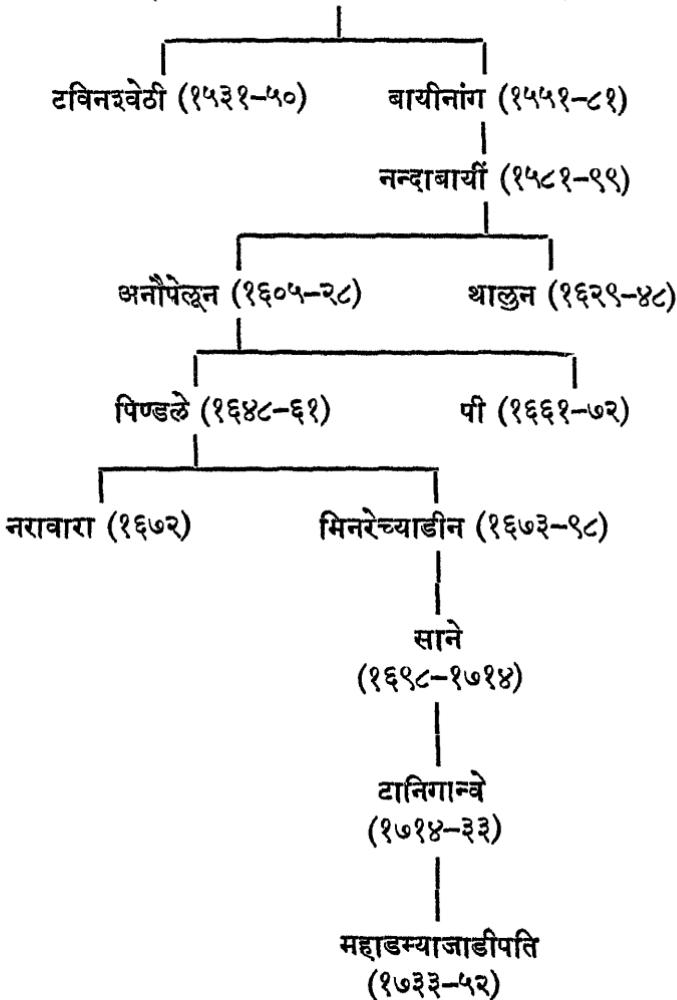
परिशिष्ट ४

आर्थिक साधन

बर्मा ऐसे और इतने समृद्ध प्राकृतिक साधनोंसे सम्पन्न है कि यहाँकी भूमिको "रत्नगर्भा" अथवा "स्वर्णभूमि" भी कहते हैं। यहाँ चावल, सागौन, मिट्टीका तेल, चाँदी, सीसा और अबरक आदिका उत्पादन प्रचुर मात्रामे होता है। इस देशके शान-राज्यके उत्तरी भागमे नाम्टूके पासकी खान विश्वमें सबसे अधिक चाँदी और सीसाके उत्पादनकी खान मानी गयी है। इसी प्रकार मोगोक संसारमे माणिक उत्पादनके लिए अद्वितीय क्षेत्र माना गया है। बर्माकी सागौनकी लकड़ी और चावलका भी संसारके व्यावसायिक क्षेत्रमे महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्वके विविध भागमे उपयोगमें आनेवाला अबरक (wolfram) जेड और ताँबा अधिकांशतः बर्मा की खानोंसे ही निकलता है।

सन् १९४१ से पहले बर्माका राष्ट्रीय उत्पादन ५ अरब ५० करोड़ च्या (रुपये) के मूल्यका था। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके बादके गृहयुद्धके कारण वह क्षीण होकर केवल ३ अरब ५० करोड़का रह गया है।

बर्माका राष्ट्रीय उत्पादन मुख्यतया कृषिपर अवलम्बित है। देशके ७५ प्रतिशत व्यक्ति इस कार्यमें लगे रहते हैं। निर्यात की जानेवाली वस्तुओंमें ७५ प्रतिशतके मूल्यका चावल बाहर भेजा जाता है। बर्मामें कृषि योग्य भूमि १ करोड़, ६३ लाख, २८ हजार एकड़ है, जिसमेंसे १ करोड़, ३ लाख, ९८ हजार एकड़में धानकी, २१ लाख, ७३ हजार एकड़ तिल और मूँगफलीकी तथा ३ लाख,

४ हजार एकड़में कपासकी खेती होती है। यह ज्ञातव्य है कि सन् १८३१ मे बर्माकी केवल ६६ हजार एकड़ भूमि कृषि योग्य थी।

द्वितीय विश्वयुद्धसे पूर्व बर्मासे प्रतिवर्ष ३० लाख टन चावल निर्यात किया जाता था, जिसका मूल्य औसत दर्जे २४ करोड़ क्या (रुपया) होता था। संसारका अन्य कोई भी देश इतनी मात्रामें चावलका निर्यात नहीं करता था।

बर्माका १ लाख ४५ हजार वर्गमील जंगल ऐसा है जहाँसे विश्वकी सर्वोत्तम लकड़ी सागौन प्राप्त की जाती है। बर्मासे इसका निर्यात प्राचीन कालसे होता आ रहा है। १६वीं शतीमें अरब व्यापारी सागौनकी लकड़ीका व्यापार बर्मासे करते थे। संसारमें जितना सागौन काममे आता है उसका ७५ प्रतिशत केवल बर्मासे पैदा होता है। विश्वयुद्धसे पूर्व लगभग २ लाख, ३० हजार टन सागौन प्रतिवर्ष बर्मासे निर्यात किया जाता था।

बर्मामें पिगडो, पडोक और कइएँ आदि अन्य अच्छी लकड़ियाँ भी होती है और लगभग ४ लाख, १८ हजार टन निर्यात की जाती थीं।

पर्वतीय भाग से लकड़ीके कुन्दे खींचकर नदियोंके किनारे लाये जाते है और वहाँसे रंगून, टाँगू तथा मोल्मीन बेड़े बनाकर पहुँचाये जाते हैं। घोर जंगलोसे खीचकर लानेका काम लगभग १ लाख आदमी और ७ हजार हाथी करते है। सन् १९४९ के जनवरी माससे जंगलोका राष्ट्रीयकरण कर लिया गया है और तबसे "स्टेट टिम्बर बोर्ड" इस कामको देखता है।

द्वितीय विश्वयुद्धसे पूर्व बर्मासे लगभग १ लाख ६० हजार टन खनिज पदार्थ निर्यात किया जाता था, परन्तु अब उसमें बहुत क्षीणता आ गयी है। युद्धकी समाप्तिके बाद ही गृहकलह प्रारम्भ हो जानेके कुफलस्वरूप स्वतन्त्र बर्माकी सरकारकी शक्ति क्रान्ति-

के दमनमें ही लगने लग गयी। कृषकवर्ग एक स्थानपर निरापद रह नहीं पाता और श्रमिक अनियन्त्रित हो गये है, जिससे देशके आर्थिक विकासका मार्ग अवरुद्ध हो गया है।

सरकार संघर्षोंका सामना करते हुए भी देशके उद्योगीकरणमे लगी हुई है। अनेक नये उद्योग चालू किये गये है। किन्तु राष्ट्रके लिए यह दुर्भाग्यकी बात है कि देशव्यापी अस्त-व्यस्तताके कुप्रभावके कारण वह प्रकृतिकी देनका उस स्तरपर सदुपयोग नही कर पा रही है, जो अपेक्षित है। फलतः "वह बर्मी राष्ट्र, जिसकी भूमि रत्नगर्भा है, आज आर्थिक संकटसे गुजर रहा है।"

परिशिष्ट ५

आबादी और क्षेत्रफल

सन् १८२४ में जब निचले बर्माके कुछ हिस्सेपर ब्रिटिश सेनाने अधिकार किया, उस समय सम्पूर्ण बर्माकी आबादी ४० लाख बतायी जाती है। परन्तु अगली एक शतीके अनन्तर इसमे कल्पनातीत वृद्धि हुई। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारीमें यहाँकी आबादी १ करोड़ ४० लाख और १९४१ मे, द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होनेसे पूर्व, १ करोड़ ७० लाख हो गयी थी। ऐसी असाधारण वृद्धि होनेके कुछ विशेष कारण थे।

बर्माके निकटतम पड़ोसी दो महान् देश भारत और चीन है। सन् १८५२ में सम्पूर्ण निचले बर्मापर ब्रिटिश आधिपत्य हो जानेके पश्चात् जब सामुद्रिक मार्गसे विदेशियोका यहाँ प्रवेश

सुगम हो गया तो इन देशोंके बहुसंख्यक लोग व्यवसाय अथवा नौकरीकी तलाशमें यहाँ आने लगे। इन आगन्तुकोंमें चीनियोंकी अपेक्षा भारतीयोंकी संख्या अधिक थी, क्योंकि तब भारतपर ब्रिटिश सत्ता थी और जंगल काटने अथवा विविध कारखानों और बन्दरगाहोंमें काम करनेके लिए अंग्रेज भारतीयोंको स्वयं लाये। बहुसंख्यक भारतीय अथवा नेपाली ऐसे भी थे जो ब्रिटिश सेनामें काम करते थे और अवकाश प्राप्त कर बहुतसे वहीं बसने लगे।

निचले बर्माके दो विशेष क्षेत्र 'अराकान' और 'तनासरिम' हैं। सन् १८२४ में दोनों क्षेत्रोंकी आबादी केवल एक-एक लाख थी। पहले 'अराकान'की आबादी ५ लाख थी, परन्तु सन् १७८५ में वहाँ बर्मी आधिपत्य होनेके बादसे क्षीण होकर १ लाख रह गयी। यहाँके निवासियोंमेंसे कुछ लापता हो गये, कुछ खास बर्मामें प्रविष्ट हो गये और कुछ भारत चले गये। सन् १८४१ में अराकानकी १० लाख और तनासरिमकी २० लाख आबादी हो गयी थी। तनासरिमकी आबादीमें ऐसी वृद्धि होनेका एक और भी कारण था। उस क्षेत्रमें सामुद्रिक मार्गसे तो विदेशियोंका प्रवेश सहज हो ही गया था, उसकी उत्तरी और पूर्वी सीमाओंके पारसे भी लोगोंका आना जारी हो गया।

सन् १८८५ में ऊपरी बर्मापर भी ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो जानेके पश्चात् वहाँकी आबादीमें भी वृद्धि हुई, किन्तु उसकी तुलना निचले बर्माकी प्रगतिसे नहीं की जा सकती। एक तो ऊपरी बर्माका कुछ भाग पहलेसे ही अपेक्षाकृत अधिक वैभव-सम्पन्न और आबाद था, दूसरे, वहाँका बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है जो न तब पूर्ण आबाद किया जा सका और न अभी ही उसके बसाये जानेकी आशा की जा सकती है। वह घोर जंगलोंसे ढँका पर्वतीय प्रदेश है। फलस्वरूप, सन् १९४१ में ५० लाखकी,

सम्पूर्ण बर्माकी लगभग एक तिहाई, (इरावदीके डेल्टा) आबादी केवल निचले बर्माकी थी।

सन् १९४१ मे बर्माभे रहनेवाले भारतीयोकी संख्या १० लाख थी। तब इनमें वे भी शुमार थे, जिन्हे आज पाकिस्तानी कहा जाता है। इनका सभी कार्य-क्षेत्रोमे बोलबाला था। व्यापारपर तो इनका आधिपत्य था ही, ये ही विविध पेशे और सरकारी नौकरियोंमें भी प्रधान रूपसे थे। ये नगर-निगम और नगर-पालिकाओके मेयर और चेयरमैनतक थे। वकील, डाक्टर, इंजीनियर, कण्ट्रैक्टर और लेखापरीक्षक तो थे ही, पशुपालक और कृषक भी थे तथा बहुतसे जमीदारी और महाजनी भी करते थे।

सन् १९४१ मे लगभग ४ लाख भारतीय बर्मासे स्वदेश चले गये थे, जिनमेसे बहुतसे सन् १९४५ से लेकर सन् १९४८ में, बर्मा स्वतन्त्र होनेतक वापस आ गये। गृहकलहके कारण स्वतन्त्र बर्मा-सरकार अबतक देशकी ठीक-ठीक मर्दुमशुमारी एक बार भी नही करा सकी है। फिर भी अनुमान किया जाता है कि लगभग ७ लाख भारतीय इस समय बर्माभे है। इनमे प्रवासी भारतीय, बर्माकी नागरिकताका प्रमाणपत्र पाये हुए भारतीय (Burmans from Indian origins) और वे भी जिन्हे प्रमाणपत्र नही प्राप्त हुआ है किन्तु कानूनन बर्मी नागरिकताके हकदार है, सभीकी गणना की जा सकती है। बर्मी नागरिकता कानूनकी एक ऐसी धारा है जिसके अनुसार "जिस व्यक्तिके माता-पिताका जन्म बर्मामे हुआ हो उसे आपसे आप बर्मी नागरिक मान लिया जाना चाहिये।" फिर, एक दूसरी ऐसी धारा है जिसके अनुसार "यदि किसी व्यक्तिकी माँ बर्मी है तो वह बर्मी नागरिकताका जन्मसिद्ध अधिकारी बन जाता है।" परन्तु ऐसे लोगोकी सूरत-शक्ल भारतीय जैसी होती है, इसलिए इनसे आवेदन कराकर प्रमाणपत्र देनेका विधान है, जिसका शुल्क केवल ५ च्या (रुपये)

है। जो व्यक्ति सन् १९३२ से ४२ के बीच अथवा सन् १९३८ से ४८ के मध्य ८ वर्षोंतक बर्मामें रहा हो उसे नागरिकता प्राप्तिका अधिकार है और ऐसोंमेंसे हजारोंको नागरिकताके प्रमाणपत्र मिल चुके हैं। हजारो ऐसे भी है, जिनके आवेदनपत्र वर्षोंसे प्रेषित हैं, किन्तु उनपर कारवाइयाँ नही हुई है। जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है सम्पूर्ण देशकी मर्दुमशुमारी न की जानेके कारण विविध राजनीतिक स्थितिके भारतीयोकी पृथक्-पृथक् ठीक संख्या बताना सम्भव नहीं है।

पाकिस्तानियोंकी संख्या लगभग ३ लाख और चीनियोंकी १० लाख बतायी जाती है। इस तरह चीनियोंकी संख्या पहलेकी तुलनामें भारतीयोंसे अधिक हो गयी है। अन्य विदेशियोंकी संख्या बहुत ही कम है। बर्मास्थित विदेशियोमे भारतीयोंकी स्थिति अबतक सर्वाधिक शोचनीय है, क्योंकि, यद्यपि ये बर्मियोंके सगोत्री और सहधर्मी हैं, जिस तथ्यके साक्षी इतिहास और पुराण दोनों ही हैं, फिर भी, ये इनके साथ घुल-मिलकर रहनेके अभ्यस्त नही बने। धीरे-धीरे स्थितिके अनुकूल आचरण करने लगे हैं और भविष्य उज्ज्वल दीखता है। इनमे सहिष्णुता और व्यवहारकुशलता होनी सर्वथा अपेक्षित है।

इस समय सम्पूर्ण बर्माकी आबादी अनुमानतः १ करोड़ ८० लाख है। इस देशकी अधिकाधिक उत्तरसे दक्षिणकी लम्बाई १२ सौ मील और पूर्वसे पश्चिमकी चौड़ाई ५७५ मील है।

बर्माका क्षेत्रफल २३८७३८ वर्ग मील है, जिसमेंसे खास बर्मा १६८५७३ वर्ग मील, छिन हिल १०२५० वर्ग मील और शान-प्रदेश ५९९१५ वर्ग मील है।